प्रथमजा

[निबन्ध-संग्रह]

लेखक—

डा० मुन्शीराम शर्मा

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग

डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

पुस्तक मिलने का पता—

[illegible] लिमिटेड

इलाहाबाद

प्रथम बार
सन् १९५३

मूल्य
१।।।)

प्रकाशक—
आचार्य शुक्ल साधना-मन्दिर,
१६/४४ पटकापुर, कानपुर

मुद्रक—
रामनाथ गुप्त
छाया प्रेस, कानपुर

पूज्य मातामह

स्व० पं० परमानन्द जी नैने 'व्यास'

की

पवित्र स्मृति

में

दो शब्द

मेरे निबन्धो का यह प्रथम सग्रह 'प्रथमजा' नाम से प्रकाशित होरहा है। 'प्रथमजा' वैदिक शब्द है। ऋग्वेद १-१६४-३७ में दीर्घतमा ऋषि विश्व की दिव्य शक्तियो के सम्बन्ध में कहते हैः—

"मै नहीं जानता कि मै यह हूँ अथवा वह हूँ। अनेक प्रकार की भावनाओ से दबा हुआ, विविध विचार शृंखलाओ से बँधा हुआ. कभी इधर और कभी उधर की बाते सोचता हुआ मै चक्कर काट रहा हूँ। कौन सा वह दिन होगा, जब मुझे ऋत की 'प्रथमजा' प्राप्त होगी, ऋत की सर्वप्रथम उत्पन्न सन्तति—बुद्धि रूपी दिव्य शक्ति के प्राप्त होते ही वाङ्मय के समस्त विस्तृत विषय मेरी समझ में आ सकेंगे ?"

ऋग्वेद की वह 'प्रथमजा' बुद्धि की दिव्य शक्ति है। इस संग्रह में जिन लेखों का समावेश है, वे बुद्धिवाद पर आश्रित है। प्रातः वेला में घर से कालेज जाते समय वेद, उपनिषद् अथवा गीता के कुछ अशों पर मनन करते हुए जो विचार सूझे, उनमें से कुछ इन लेखो मे निबद्ध कर दिये है। सम्भव है, पाठको को इसमें एक ऐसी क्रमबद्ध विचारधारा भी प्राप्त हो, जो स्वयं उन्हें चिन्तन की ओर प्रवृत्त करे।

वैशाख पूर्णिमा,
२०१० वि०]

मुन्शीराम शर्मा

विषय-सूची

ब्रह्म

गीता के सत्रहवें अध्याय के अन्त मे ब्रह्म के निर्देशक तीन शब्द आये है:—ओ३म्, तत् और सत्। इन्ही तीनों से क्रमशः ब्राह्मण, वेद और यज्ञ की उत्पत्ति हुई।

सापेक्ष शब्दों द्वारा कहा जा सकता है कि ब्रह्म सत् है, असत् नहीं; सत् तत् है, एतत् नही; तत् ओ३म् है–अव्यय है–मूल है–रक्षक है। ओ३म् ब्रह्म है। उलट कर विचार कीजिये तो ब्रह्म ओ३म् है, सबका मूल है, अव्यय है अथवा अविनाशी मूल है और रक्षक है। ओ३म् तत् है और तत् सत् है। ब्रह्म का धाम ओ३म् है—ब्रह्म ओ३म् में निवास करता है। ओ३म् का धाम-निवासस्थान तत् है और तत् का निवास-स्थान सत् है। सत् तत् में, तत् ओ३म् में और ओ३म् ब्रह्म मे लीन हो जाते है। ब्रह्म ओ३म् अक्षर द्वारा प्रकट होता है। ओ३म् तत् द्वारा प्रकट होता है और तत् सत् द्वारा।

ब्रह्म का निर्देश करने वाले ओ३म्, तत् और सत् से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ का क्रमशः निर्माण हुआ है। पिता से पुत्र का निर्माण होता है अथवा पिता ही पुत्र रूप में प्रकट होता है। इसी हेतु एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान होजाता है। जिसने अविनश्वर अक्षर ब्रह्म को जान लिया, वह ब्राह्मण है, तत् वेद अर्थात् ज्ञान है और सत् यज्ञ है। जो यज्ञ करता है, वह यज्ञ के मूल सत् की ओर प्रयाण करता है। जो सत्

की खोज करता है, वह सत् के मूल तत् अर्थात् ज्ञान की ओर चलता है। जो तत् को अपनाता है, वेद अर्थात् ज्ञान को पकड़ता है, वह अक्षर ब्रह्म पर जा टिकता है और जो अविनाशी तत्व को हृदयगम कर सकता है, वह ब्रह्म को जान जाता है।

ओ३म् मूल है, इसलिए प्रत्येक कार्य के मूल में ओ३म् का उच्चारण करना चाहिए। कार्य अर्थात् करणीय कर्म तीन हैं, यज्ञ, तप और दान। दान करने से सत् की अनुभूति होत है, तप से ज्ञान का उदय होता है और यज्ञ करने से ब्रह्म-भावना जाग्रत होती है।

ससार की प्रत्येक सत्ता में सत् विद्यमान है। विश्व में जो कुछ स्थिर है, टिकाऊ है, अस्तित्व वाला है, वह सत् के कारण है। यहाँ जो कुछ शुभ है, साधु है, सरल है, भला है, वह भी सत् है। प्रशस्त अर्थात् प्रशसनीय कर्म भी सत् है। यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, प्रतिष्ठा है, ठहरना है, वह सत् है और इनके लिए जो कर्म रूपी साधन सम्पादन करना पड़ता है, वह भी सत् है; परन्तु इनमे श्रद्धा होनी चाहिये। अश्रद्धा से जिनमें आहुति दी जाती है, ऐसे यज्ञ, तपे हुए तप और दिये हुए दान असत् है। न वे इस लोक मे सफल होते है, न परलोक में।

यह सत् की परिभाषा है।

तत् अर्थात् वह यह का विपरीत है। जो कुछ सामने है, प्रत्यक्ष है, थोड़ी देर या अधिक देर ठहरने वाला है—यह है। इसके विपरीत जो प्रत्यक है, परोक्ष है, सदा स्थिर रहने वाला है—तत् है। यज्ञ, तप और दान यदि फल की आकाक्षा से किये जाते हैं, तो वे इसी लोक से सबद्ध

होजाते है। जिस फल की कामना की जाती है, उस फल को भोगने के लिए जीव को एक योनि से दूसरी योनि मे जाना पड़ता है, आवागमन का क्लेशकारी चक्र सहन करना पड़ता है। अतः फल की भावना छोड़कर जो यज्ञ, तप और दान किया जाता है, वही यहाँ से वहाँ पहुँचा सकता है, विविध योनियों के जन्म-मरण रूपी क्लेश-चक्र से पार कर सकता है। निष्काम होकर भी जो यज्ञ, तप और दान किये जॉय, वे भी विधि-विधान के अनुकूल होने चाहिये। इन कार्यो में मनमानी घर जानी नही चलती। ऋषियों ने अपनी तपोपूत दृष्टि द्वारा जो नियम देखे और जिनका विधान उन्होंने यज्ञादि के लिये स्थिर किया, उन्हीके अनुकूल यज्ञादि करने चाहिए, विधान-विपरीत नही। इन दो भावनाओं से सवलित यज्ञ, तप और दान तत् अर्थात् उस तक पहुँचाने वाले हैं। मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले सत् पुरुष इसी पथ पर चलते हैं।

यह तत् की व्याख्या है।

विधि-विधानों के अनुकूल जो यज्ञ, तप और दान ब्रह्मवादियों के द्वारा किये जाते हैं, उनके प्रारम्भ मे ओ३म् का उच्चारण करना चाहिये। यह सृष्टि ओंकार से ही प्रारम्भ हुई है। ओ३म् अव्यय है, जिसके अन्य शब्दों की भांति रूप नही चलते, जो सभी विभक्तियों और कालों में एक समान रहता है। यह मूल अक्षर है। इसीसे अन्य समस्त वर्ण प्रादुर्भूत हुए है। विश्व भर का वाङ्मय मानो इसी मूल अक्षर की क्रीड़ा है। यही एक विविध वर्णों मे मानों बहु होगया है। यह बहु अन्त मे उसी एक मे समा जाता है। ऐसा विचार करके प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे ओ३म् का उच्चारण करना चाहिये।

ओ३म् अक्षर ही ब्रह्म है, यही सबसे श्रेष्ठ है, इसीका अवलम्बन

लेना श्रेयस्कर है, इससे बढ़कर अन्य कोई भी आश्रय नहीं है। सब वेद इसी ओ३म् की व्याख्या करते हैं, तपस्वी इसीके लिये तप करते हैं, ब्रह्मचारी इसीकी कामना से ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। जो इस अक्षर अविनाशी ओ३म् को जान लेता है, उसकी कामनायें पूरी होती है। इसके ज्ञान के सहारे साधक ब्रह्मलोक में महिमामय बनता है।

यह ओ३म् की महिमा है।

ओ३म् सृष्टि का मूल है, तो ब्राह्मण मानवता का मूल है। सूक्ष्म ओ३म् से ही स्थूल ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है। तत् परोक्ष का निर्देश करता है, अतः वेद या ज्ञान का पिता है। सत् अस्तित्व को प्रकट करता है, जो यज्ञ-भावना का जनक है। बिना यज्ञ किये यहाँ कोई भी अपने अस्तित्व को सार्थक नहीं कर सकता।

ओ३म्, तत्, सत् ही उलटकर सत्, चित्, आनन्द के द्योतक है अथवा प्रकृति, जीव और परमात्मा के वाचक है। सत्, ऋत और अभीद्ध तप भी यही है। हमे अपने प्रत्यक्ष असत् से सत् की ओर चलना चाहिए। यह से वह की ओर जाना चाहिए। वह ही ओ३म् द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। वह ही ओ३म् और ओ३म् ही ब्रह्म है।

ब्रह्म का अर्थ है—बड़ा। जो स्थूल है, वह बड़ा नही हो सकता। अपनी लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई मे वह सीमित है, सीमाबद्ध है। जो सूक्ष्म है, वही स्थूल मे व्याप्त हो सकता है। अतः उसकी अन्तिम पराकाष्ठा ही सर्वव्यापक कहला सकती है। ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और इसी हेतु महान् से महान् है। वह अल्प नही, विशाल है। अणु नही, विभु है। स्थूल नहीं, सूक्ष्म है। अगुष्ठ-मात्र नहीं, भूमा है।

हमें अपने कार्यों मे यज्ञ, तप और दान को प्रमुख स्थान देना चाहिए। इन्ही के द्वारा हम त्यागी तथा ज्ञानी बनते हुए उस परम अक्षर तत्त्व को प्राप्त कर सकेंगे। यहाँ आकर हम सबका लक्ष्य ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मणत्व की प्राप्ति ही होना चाहिए। अपने मूल को पाकर ही हम मूलों के मूल ब्रह्म को साक्षात कर सकेंगे।

हमारे अन्दर जो अयाजक है, अवैदिक है, वह अब्राह्मण है। वैदिक और याजक ही ब्राह्मण होता है। प्रभु के सनातन काव्य वेद और सनातन क्रिया-यज्ञ को अपना कर ही हम ब्राह्मण बन सकेंगे और ब्राह्मण बनकर ही हम अपना कल्याण कर सकेंगे।

सत् ही तत् है, तत् ही ओ३म् है और ओ३म् ही ब्रह्म है। असत् एतत् है, एतत् व्यय है और व्यय ही अल्पता अथवा विनाश है। हमे अपनी समस्त शक्ति सत्, तत् और ओ३म् पर केन्द्रित कर देनी चाहिए। इसीमे महानता है, ब्रह्मत्व है।

यह ब्रह्म का निर्देश हुआ।

पुरुष

गीता के पन्द्रहवे अध्याय के अन्त मे तीन पुरुषों का वर्णन है; क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष । क्षर पुरुष उत्पन्न हुए समस्त भूत (प्राणी) है । अक्षर पुरुष कूटस्थ अर्थात् रचना रूपी पर्वत के सबसे ऊंचे शिखर पर स्थित है । उत्तम पुरुष परमात्मा है जो अविनाशी, सबका शासक और तीनों लोकों में व्याप्त होकर सबका भरण-पोषण करने वाला है ।

यजुर्वेद के इकतीसवे अध्याय का नाम पुरुष सूक्त है, जिसमे बाईस मन्त्र है । ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त संख्या ६० का भी नाम पुरुष सूक्त है, जिसमे सोलह मत्र हैं । ये सोलह मत्र क्रम मे थोड़े अन्तर के साथ यजुर्वेद के उपर्युक्त अध्याय मे भी है । छः मत्र वहाँ अधिक है । इस सूक्त मे भी पुरुष का वर्णन है ।

पुरुष का अर्थ पुरी मे निवास करने वाला है । ऐसी पुरी एक तो प्राणी का शरीर है और दूसरी यह विशाल ब्रह्माड है । शरीर अनेक है और नाना रूप वाले है । ब्रह्माण्ड एक है । अंग्रेजी मे इसे 'यूनिवर्स' कहा जाता है, जिसका अर्थ है एक कविता । वेद मे भी सृष्टि को देव का काव्य कहा गया है । काव्य कुछ नपे-तुले, एक विशेष क्रम मे निबद्ध सार्थक शब्दों का नाम है । सृष्टि भी द्यावा,

पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के तीन स्थान भेदों से नाना लोक-लोकान्तरों के समूह का नाम है, जो एक-दूसरे से निश्चित दूरी पर स्थित, निश्चित गति से निश्चित पथ पर चलने वाले तथा निश्चित परिमाण वाले हैं। इनकी स्थिति, दूरी और वेग विशेष रूप से नपे-तुले हैं और सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक उसी निश्चित क्रम के साथ वर्तमान हैं। जिस प्रकार प्राणी के शरीर की अवधि निश्चित है, उसी प्रकार इस विशाल ब्रह्माण्ड की भी। अतः भविष्य मे यह ब्रह्माण्ड इस रूप मे एक निश्चित अवधि तक ही रह सकेगा। जैसे यह शरीर कुछ सयुक्त अवयवों का नाम है, जिनके वियुक्त होते ही यह टूट जाता है, भस्म होजाता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड भी विविध प्रकार के परमाणुओं से निर्मित अनेक ग्रह-नक्षत्रों के समूह का नाम है, जो एक दिन बिखर जावेंगे। प्रत्येक सगठन एक दिन छिन्न-भिन्न होता है। शरीर एक संगठन है, जो नष्ट होते देखा जाता है। ब्रह्माण्ड भी एक विशाल संगठन है, जो एक दिन छिन्न-भिन्न होगा। इसकी आयु अधिक लम्बी है; पर अन्त भी एक दिन निश्चित और अनिवार्य है। इसी अन्त को प्रलय कहते हैं।

शरीर और ब्रह्माण्ड रूपी दोनों पुर अथवा नगर विनश्वर है। गीता ने इन दोनों पुरों को ही क्षर पुरुष की सज्ञा प्रदान की है। गीता का अक्षर पुरुष क्या है, जिसे कूटस्थ कहा गया है? कूटस्थ का अर्थ है—शिखर पर स्थित। यह शिखर क्या है? पर्वत कई पर्वों अथवा पोरों को रखता है। उसमे ग्रन्थियों के रूप मे एक-दूसरे से जुड़े हुए अनेक परत होते है। वृक्षों मे भी ऐसे परत होते है। भूगर्भ विद्या

के ज्ञाता इन पोरों से वृक्ष या पर्वत की आयु का भी निश्चय कर लेते है । इन पर्वों मे सबसे ऊँचा पर्व शिखर या कूट कहलाता है । संसार तो उलटा वृक्ष या पर्वत है । अतः इसका कूट भी हमें इधर से पीछे लौटकर दिखाई देगा । रचना में पीछे का क्रम पृथिवी से जल, जल से अग्नि, अग्नि से वायु और वायु से आकाश तक पहुँचता है । वैसे भी रचना का अन्तिम छोर दृढ पृथिवी और प्रारम्भिक रूप द्यौ है । पीछे चलने पर यह द्यौ ही इस रचना रूपी पर्वत का सबसे ऊँचा कूट अथवा शिखर है । इस द्यौ पर कौन स्थित है ? अव्यक्त । यही अव्यक्त गीता का अक्षर पुरुष है ।

इस क्षर और अक्षर पुरुष से भी भिन्न तीसरा उत्तम पुरुष है, जिसे परमात्मा कहते है । यह परम आत्मतत्व एक और अव्यय है । पाश्चात्य दार्शनिकों की दृष्टि में यही एब्सोल्यूट रियलिटी (Absolute reality) है, अन्तिम, निरपेक्ष, अविभाज्य सत्ता है ।

गीता मे जिस त्रिविध पुरुष का वर्णन है, वह वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित पुरुष से कुछ भिन्न है । पुरुष सूक्त मे व्यष्टि-पुरुष, समाज-पुरुष, ब्रह्माण्ड पुरुष और अन्त में यज्ञ (परमात्म) पुरुष का वर्णन है । गीता का पुरुषोत्तम और वेद का यज्ञ पुरुष एक ही है । दोनों अविनश्वर हैं, जगत के रचयिता, पालक और संहर्त्ता है, सबके ईश्वर अर्थात् स्वामी और शासक है, सर्वव्याप्त और एक है । पुरुष सूक्त मे इस परम पुरुष के सम्बन्ध मे और भी अनेक गुण वर्णित हुये है, जो गीता के इस स्थल पर नहीं मिलते ।

पुरुष सूक्त के अनुसार परम पुरुष सहस्रों शिरों, आँखों और पैरों

वाला है। वह इस रचना में चारों ओर से व्याप्त होकर इससे पृथक् भी स्थित है। रचना इस पुरुष के महत्व को प्रकट करती है। वह स्वयं इससे कहीं अधिक महान् है। सृष्टि विशाल है, पर पुरुष इससे भी अधिक विशाल है। सृष्टि उसके एक पाद या अंश में समा सकती है।

हम सब अपनी इस पृथिवी और इसके चतुर्दिक् वर्तमान वायुमण्डल से ही अधिक सम्बन्ध रखते है। ऊपर चमकते हुए नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि हमारे लिये उपयोगी है, इससे अधिक या अतिरिक्त सम्बन्ध का हमें प्रायः भान नहीं होता। हमारी पृथिवी भी छोटी नहीं, अत्यन्त विस्तृत और फैली हुई है—प्रथनात् पृथिवी। पर इन सब भूतों, उत्पन्न हुए ग्रह-उपग्रहों, लोक-लोकान्तरों से यज्ञ पुरुष बहुत अधिक बड़ा है। गणित के शब्दों मे कह सके तो यही कह सकते हैं कि यह ब्रह्माण्ड यदि एक पाद है, तो इससे चौगुना अर्थात् चतुष्पाद पुरुष है।

प्राणियों में मानव मस्तिष्क से कार्य लेने वाला है। पर उसकी सोचने, विचारने, स्मरण करने, सङ्कल्प करने और निर्णय करने की शक्ति देश और काल दोनों की दृष्टि से सीमित है। परम पुरुष असख्य मस्तिष्कों की शक्ति रखता है, जो शक्ति असीम है तथा देश और काल की अपेक्षा नही रखती। हमारे पास दो आंखें है जो कुछ दूर तक के पदार्थों को ही देख सकती है, सामने आवरण आ जाने पर उतना भी नहीं; पर परम पुरुष ऐसी असख्य आंखे रखता है, अर्थात् उसकी दर्शन शक्ति महान है और उसके सामने कोई आवरण नही है। हम अपने दो पैरों से अधिक समय लगाकर थोड़ी दूर तक ही जा पाते हैं, पर परम पुरुष अनेक पैरों वाला है, अर्थात् उसकी पहुंच सर्वत्र है और देश-काल के बन्धनों से परे है। दूसरे शब्दों में यज्ञपुरुष सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और

अनन्त शक्ति-सम्पन्न है। हम सबकी दृष्टि से वह निराकार, निर्भय, अजर और अमर है। हम सान्त एव ससीम, वह अनन्त एव असीम। हमारा और उसका सम्बन्ध बूंद और सागर, चिनगारी और अग्नि अथवा अंश और अंशी जैसा है।

व्यष्टि पुरुष की कल्पना उसके मुख, बाहु, उदर या उरु और पैरों द्वारा की जाती है। मुख बोलने अर्थात् अर्थपूर्ण शब्दों के उच्चारण करने की शक्ति है और ज्ञानेन्द्रियों का प्रतीक है। बाहु रक्षाशक्ति की द्योतक हैं। उदर या उरु का सम्बन्ध शरीर के अवयवों को भोजन पहुँचाने के साथ है और पैरों का सम्बन्ध सारे शरीर की प्रतिष्ठा अर्थात् धारण करने से है जो सेवा का प्रतीक है। ज्ञानेन्द्रियों के पूर्ण उपयोग की शक्ति मानव में ही है, अन्य प्राणियों मे नहीं। बाहु की रक्षा शक्ति किसी न किसी रूप में सभी प्राणियों में पाई जाती है, परन्तु मनुष्य अपनी ज्ञान-शक्ति की सहायता से उसे जितना बढ़ा लेता है, उतना अन्य प्राणी नही कर पाते। भोजन और पैरों की शक्ति के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। अतः व्यष्टि पुरुष की कल्पना मानव शरीर पर ही पूर्णतया घटित होती है। पुरुष सूक्त में लिखा है कि जब यह पुरुष आविर्भूत हुआ तो पृथिवी को आगे और पीछे से उल्लंघन कर गया। पृथिवी के आगे और पीछे क्या है? पृथिवी के आगे उस पर उत्पन्न वनस्पति, औषधि तथा अन्न आदि हैं। पृथिवी के पीछे तरल तथा वायवीय जगत है। पुरुष निस्सन्देह इन सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि वह चेतन है। पृथिवी के आगे और पीछे की रचना जड़ है—जो चेतन की समता नहीं कर सकती।

समाज पुरुष में मुख शक्ति ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय, उरु वैश्य

और पैर शूद्र हैं। जिस प्रकार व्यष्टि पुरुष के मुख, बाहु आदि चारों अवयव परस्पर एक-दूसरे के पूरक होते हुए पूर्ण मानव का निर्माण करते है, उसी प्रकार समाज मे ब्राह्मण आदि चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक बनकर ही सम्पूर्ण समाज रूपी पुरुष का संगठन करते हैं। किसी एक के भी अभाव में समाज रूपी संस्था अधूरी रह जायगी। शरीर में उदर या उरु के पास पाचक अवयव होते है जो दो प्रकार के है—उत्पादक और विभाजक (Manufacturing and Distributing) एक का कार्य रस उत्पन्न करना और दूसरे का कार्य उस रस को समान रूप से सब अंगों में वितीर्ण कर देना है। समाज पुरुष का वैश्य अग भी इन दोनों कार्यों को करता है। वैश्य धन उत्पन्न करता है और उस धन को धर्मशाला, कूप, वापी, पाठशाला आदि बनाने या दान देने में व्यय करता है, जिससे उस धन का उपयोग सारा समाज कर सके। यदि वैश्य उत्पन्न किए धन को अपने पास ही रखे, समाज को न दे, तो समाज रूपी पुरुष वैसे ही वैषम्य-जनित अशान्ति एव कलह के रोग में ग्रसित होकर नष्ट होजायगा जैसे वह पुरुष अस्वस्थ होकर नष्ट होजाता है, जिसका उदर भोजन को अपने ही अन्दर रखे रहे, पचाकर उसे रस रूप में अन्य अगों तक न पहुचावे। समाज पुरुष के शूद्र अग के भी दो कार्य हैं—शुद्धि करना और बाहर निकालना।

ब्राह्मण और क्षत्रिय—समाज रूपी पुरुष के शरीर में फैले हुए ज्ञान-तन्तु-जाल (Sensery nervous system) और क्रिया-तन्तु-जाल•(Motornervous system) के समान हैं। राष्ट्र पुरुष के सङ्गठन रूपी शरीर में भो ये चारो अग दृष्टिगोचर होते है। प्रत्येक राष्ट्र को सुचारु रूप से कार्य-सचालन के लिये (Legislative,

executive, revenue-department and subordinate officials)अर्थात् विधान सभा, कार्यकारिणी सभा, अर्थ विभाग और निम्न कर्मचारी जैसी संस्थायें बनानी पड़ती है, जो क्रमशः ऊपर वर्णित चार वर्णों का ही कार्य करती है।

ब्रह्माण्ड रूपी पुरुष का शिर द्यौलोक है, चक्षु सूर्य, मन चन्द्रमा, मुख अग्नि, प्राण वायु, नाभि अन्तरिक्ष, दिशायें श्रोत्र और पैर भूमि है। वेद ने इस स्थान पर निखिल ब्रह्माण्ड मे निश्चित स्थान पर स्थित द्यौ, सूर्य, चन्द्र आदि को पुरुष शरीर के भिन्न-भिन्न अगों से उपमित किया है। उपमाएँ सभी सार्थक है। मानव का मस्तिष्क जैसे बुद्धि(प्रकाश) का स्थान है, वैसे ही ऊपर का द्यौलोक ज्योतिर्मय है। चक्षु जैसे तेज का केन्द्र है, वैसे ही सूर्य भी। चन्द्रमा शीतल है तो मन भी शान्ति एवं शीतलता का कारण है। अग्नि आहुत पदार्थों को खाकर उसका रूप बदल देती है; मुख भी दूध, अन्न आदि को ग्रहण करके उनका रूप बदल देता है। बाहर वायु है, शरीर में प्राण वायु का प्रतिनिधि है। अन्तरिक्ष ब्रह्माण्ड के बीच में दिखाई देता है, नाभि भी शरीर के बीच में है। दिशाएँ शब्द तरगों को ग्रहण कर सुरक्षित रखती है, श्रोत्र भी शब्दों को ग्रहण करते है। सबसे नीचे भूमि है जो शरीर के नीचे के अग पैरों के समान है और उन्हीके समान हम सबको धारण कर रही है। चातुर्वर्ण्य पर घटाना चाहें तो पृथ्वी शूद्र, अन्तरिक्ष और उसका वायुमण्डल वैश्य, अग्नि-इद्र आदि क्षत्रिय और द्यौ लोक ब्राह्मण है।

पुरुष सूक्त मे इस प्रकार चतुर्विध पुरुष का वर्णन हुआ है। इन पुरुषों में उत्तम अर्थात् पुरुषोत्तम यज्ञ पुरुष परमात्मा ही है, जो तम से परे और आदित्य वर्ण का है। इसीको जान कर मानव मृत्यु से पार होता है और परमानद को प्राप्त करता है।

मूर्त और अमूर्त

जो कुछ सम्मुख है, आँखों का विषय है, रूप वाला है, जिसमें लम्बाई चौड़ाई और मुटाई है, वह मूर्त है। अमूर्त इसके विपरीत रूप रहित तथा चाक्षुष्य प्रत्यक्ष के परे है। चक्षु के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञानेन्द्रियों के विषय अमूर्त है। शब्द, स्वाद, गध, स्पर्श मूर्त नही है। इनमे से किसी का भी ऐसा आकार या रूप नही है, जो आँख से देखा जा सके।

मूर्त और अमूर्त सापेक्ष मूल्य भी रखते है। एक ही वस्तु दूसरी की अपेक्षा मूर्त तथा अमूर्त दोनों हो सकती है। वैखरी वाणी जिसका उच्चारण हम सब करते हैं, मध्यमा वाणी की अपेक्षा मूर्त—किन्तु लिखित अक्षरों की अपेक्षा अमूर्त है। मूर्त का सबसे अधिक स्थूल रूप पृथिवी है। पृथिवी से सूक्ष्म जल, जल से सूक्ष्म अग्नि, अग्नि से सूक्ष्म वायु और वायु से भी सूक्ष्म आकाश माना गया है। इसके भी तीन विभाग हैं:- पृथिवी तथा उसको चारों ओर से घेरे हुए वायुमण्डल, अन्तरिक्ष तथा उसका किञ्चित धूमिल एवं किञ्चित ज्योतित परिवेष और तृतीय द्यौलोक जो प्रकाशावृत है। प्राणियों के शरीरों मे प्रथम विभाग का सम्बन्ध अन्नमय कोष तथा प्राणमय कोष के साथ है। द्वितीय विभाग मनोमय कोष से सम्बन्धित है तथा तृतीय विभाग विज्ञानमय कोष कहा जा सकता

है। शरीर मे अन्दर से बाहर मूर्त रूप बनता गया है। अन्दर बुद्धि प्रकाशाणुओं की बनी हुई है, जो सूक्ष्म है तथा अन्य अणुओं की अपेक्षा अमूर्त है। मन भी अमूर्त है। परन्तु मानसिक क्षेत्र को जो प्राण का आवरण घेरेहुये है, वह अपेक्षाकृत मूर्त है। हाड़, मांस त्वचा का सम्मिलित ढाँचा मूर्त है।

शरीर में मन मध्य स्थानीय है। मन से प्रारम्भ करके मन, प्राण और अस्थि–मांस–त्वकके समूह की एक त्रिपुटी है, जो बाहर की ओर है। अन्दर की ओर मन से ही प्रारम्भ करके मन, बुद्धि और आत्मा की दूसरी त्रिपुटी है। आत्मा विशुद्ध रूप से अमूर्त है, जो आन्तरिक त्रिपुटी के कूट पर स्थित है। अस्थि–मांस–त्वक की समष्टि मूर्त है, जो वाह्य त्रिपुटी का सबसे अतिम छोर है। इन दोनों के बीच में आने वाले एक दूसरे की अपेक्षा से मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के कहे जा सकते है।

वाणी का चतुर्विध विभाग भी इन सबके साथ सम्बद्ध है। आत्मा की शक्ति रूप वाक् नितांत अमूर्त है, परतु जैसे–जैसे वह अभिव्यक्ति की ओर आती जाती है, उसका सम्बन्ध मूर्त तत्वों के साथ होता जाता है। वाणी को मूर्त रूप तक आते-आते कई पड़ाव पार करने होते हैं। सर्व प्रथम आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों अथवा भावों को समेट कर बोलने की इच्छा से मन को नियुक्त करता है। मन कायाग्नि पर चोट करता है। कायाग्नि मारुत (वायु अथवा प्राण) को प्रेरित करती है और मारुत अथवा प्राण शनैः शनैः चलकर स्वर को उत्पन्न करता है। कण्ठ से लेकर मुख-विवर के सभी अवयव इस स्वर को

मूर्त रूप प्रदान करने में क्रियाशील होते है। संवार, विवार, स्पर्श, सघर्ष, उत्क्षेप आदि विविध व्यापार शब्द को विचार–विनिमय की अर्थभरी शक्ति प्रदान करते हैं।

मूर्त और अमूर्त का यह संक्षिप्त विवरण है। परन्तु मूर्त अमूर्त से सर्वथा पृथक है अथवा अमूर्त मूर्त से नितान्त असंपृक्त है, ऐसा नहीं है। किसी संगठन से उपमा दी जा सके तो हम कह सकते हैं कि मूर्त शरीर है और अमूर्त उसका प्राण है, आत्मा है। वस्तुतः अमूर्त मूर्त में समाया हुआ है। यदि अमूर्त न हो तो मूर्त की सत्ता भी नहीं हो सकती।

प्रत्येक शरीर प्राण से सत्तावान है। प्राण के निकलते ही वह निःसत्व अर्थात् अस्तित्व-हीन होजाता है। किसी वृक्ष के पत्तों को तोड़िये। कैसे हरे-भरे और सुहावने लगते हैं। परन्तु जब तक पत्तो में रस है, तभीतक वे हरे-भरे है। रस के निकल जाने पर वे सूख जाते हैं और मिट्टी में मिल जाते है। पत्ते की जो रूपरेखा है वह उसके अन्दर निहित रस के कारण है। रस के निचोड़ लेने पर फोकट रह जाता है। उसकी सुन्दर आकृति नष्ट होजाती है। सामान्य मिट्टी का ढेर रस (जल) से सयुक्त होकर सुन्दर पिंड का रूप धारण कर लेता है। कुम्भकार जल में मिट्टी सान कर और अपने चक्र पर चढा कर नाना प्रकार के पात्र तथा खिलौने बना देता है। रस के बिना केवल मिट्टी से यह कार्य नहीं हो सकता। रस के साथ अग्नि भी मूर्तिमत्ता का कारण है। खिलौने तथा घट आदि अग्नि में पक कर अपनी रूपरेखा को देर तक स्थिर रखते हैं। इस प्रकार भूमि का प्राण रस है। रस का प्राण अग्नि है। परन्तु अग्नि का भी प्राण वायु और वायु का भी प्राण आकाश कहा गया है। अग्नि का कारण वायु है और वायु का आधार आकाश है।

साधारणतया मानव का शरीर प्राण के निकलते ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसके परमाणु (जिनका सगठन वह शरीर था) बिखर-कर अपने सजातीय परमाणुओं मे मिल जाते है। यही परमाणु पुनः एक विशेष चेतन-क्रिया के कारण, एकत्र होकर नवोन शरीर के निर्माता बनते हैं। यह चेतन तत्व इन सभी परमाणुओं के अन्दर ओत-प्रोत है।

उपनिषदो के ऋषि बार- बार मूर्त को विनश्वर और अमूर्त को अवनिश्वर कहते है। उनकी दृष्टि में मूर्त का मूल्य अमूर्त की अपेक्षा कम है। केवल शरीर का मूल्य क्या है ? अस्थि, चर्म, मांस अपना मूल्य रखते है, पर उतना नहीं जितना प्राण, मन या बुद्धि। प्राण–रहित मास या हड्डी निष्क्रिय है और ऐसी दशा मे खाद रूपी साधन के अति-रिक्त उनका अन्य कोई भी उपयोग नहीं है। परन्तु सप्राण मांस कितना क्रियाशील होता है ! वह अपने जैसे अन्य मांसों को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। सप्राण मांस भी मन से सयुक्त होकर और भी अधिक शक्ति–सम्पन्न बन जाता है। बुद्धि से सयुक्त यह समस्त संसार तो विधाता की अनुपम रचना है। परन्तु यह समग्र बुद्धि–सयुक्त समार आत्मा के बिना जैसे कुछ भी नही है। अतः अमूर्त आत्म तत्व की ही प्रतिष्ठा है। उसीसे अन्य प्रतिष्ठित होते है। उसकी अनुपस्थिति में अन्य सबल से भी सबल तत्वों का कोई भी मूल्य नही है।

शरीर की प्रतिष्ठा का कारण जैसे आत्मा है, वैसे ही समग्र संसार की प्रतिष्ठा का कारण परमात्मा है। वह चर एवं अचर सबका आत्मा है। जैसे पिंड शरीर मे बुद्धि तत्व है, वैसे ही ब्रह्माण्ड शरीर में द्यौ तत्व है। जैसे यहाँ मन है, वैसे ही वहाँ आकाश है। जैसे यहाँ प्राण है,

वैसे ही वहाँ वायु है। जैसे यहाँ हाड़-मांसादि है, वैसे ही वहाँ पृथिवी आदि ग्रह-उपग्रह है। शरीर, हृदय और मस्तिष्क अपने समानान्तर पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के स्थानीय है। इन्हींके समकक्ष अग्नि, विद्युत और सूर्य है, जो क्रमशः तेज, इन्द्रियत्व और भ्राज (प्रकाश) के दाता है। शरीर की ये तीन शक्तियाँ इन्ही तीन स्थानों मे विद्यमान तीन महान शक्तियों की देन है। तनु, आयु और वर्चस का कारण भी यही त्रिविध आग्नेय तत्व हैं। श्री,यश और सत्य इन्हीकी कृपा से प्राप्त होते हैं। वैश्यत्व, क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व इन्ही तीन के आधार पर बनते है। शूद्रत्व छिलका मात्र है, परन्तु उसके अंदर गूदा, रस और स्वाद यही ऊपर वर्णित तीन शक्तियाँ है। यही अपनाने के योग्य हैं। आम को चूसकर लोग छिलके को फेंक देते है। छिलके को छीलकर कुछ फलों का गूदा खाया जाता है। कुछ फल छिलके-सहित भी खाये जाते है। आम के छिलके को भी कुछ मनुष्य खाजाते है, यदि नही खाते तो वह पशुओं का आहार बनता है। अतः छिलके की भी उपयोगिता है—प्रथम तो गूदा, रस आदि को सुरक्षित रखने मे और द्वितीय रस-विहीन होकर पशुओं का भोजन बनने मे; परन्तु जो मूल्य गूदे, रस और स्वाद का है, वह छिलके का नही है। स्वाद अमूर्त है, रस उसकी अपेक्षा मूर्त है और गूदा रस की अपेक्षा से भी अधिक मूर्त है। छिलका एकदम मूर्त है।

मूर्त से अमूर्त की ओर जाने का क्रम ठोस से तरल, तरल से वाष्पवी तथा वायवी से प्रकाश की ओर चलना है। प्रकाश भी उत्, उत्तर और उत्तम तीन प्रकार का है, जिसे क्रमशः सत्, आत्मा और

परमात्मा सम्बन्धी कहा जा सकता है। प्रकाश की यह त्रिपुटी भी ध्यान देने योग्य है। प्रकाश स्वयं अपने अन्दर दाहकता, जीवनी-शक्ति तथा ज्ञान को रखता है।

वेद में एक स्थान पर प्रभु को अया=गति-रहित कहा गया है। चाञ्चल्य रजोगुण में है। सत् मे प्रकाशमयी स्थिरता है, जिसका सर्वो-त्तम रूप प्रभु है। अभिशस्ति अथवा पाप रजोगुण का ही परिणाम है। अतः अमूर्त की अन्तिम अवस्था सर्वथा पाप रहित है।

पार्थिवता दृढ़, ठोस, भारी अर्थात् तमोमयी है। इसमे सूक्ष्मता का अभाव है। मूर्त रूप इसी हेतु व्याप्य तो बनता है, परन्तु व्यापक नहीं। सूक्ष्म तत्व स्थूल अथवा ठोस तत्व में व्याप्त होजाता है। अमूर्त सूक्ष्म है, अतः सबमे व्यापक होने के कारण महान् भी है।

अद्वैत दृष्टि से सत् ही परिस्थितियों के प्रभाव से तम में परिव-र्तित हो जाता है। आकाश ही अनेक परिवर्तनों में से निकल कर पृथिवी का रूप धारण कर लेता है। यह आविर्भाव का क्रम है। तिरो-भाव के समय पृथिवी क्रमशः लीन होती हुई आकाश तक जा पहुचती है। इस प्रकार अमूर्त ही मूर्त रूप धारण करता है और मूर्त अंत में अमूर्त में लीन होजाता है।

मानव सत् की भूमिकाओं में प्रवेश करता हुआ प्रकाश को प्रत्यक्ष कर लेता है। देव-दर्शन तक उसे सुलभ होजाते हैं, पर फिर वहाँ से हट कर साधारण अवस्था में पहुच जाता है। मूर्त से अमूर्त तथा अमूर्त से मूर्त तक पहुँचने की यह अनुभूति प्रायः सभी विकसित

आत्माओं को होती रहती है और तब तक होती रहती है, जब तक वे 'श्रया' नहीं बन जातीं। श्रया रूपी भेषज व्युत्थान की वृत्तियों का शमन कर के आत्मा को विकास की, चेतनता की दृढ आधार भूमि पर प्रतिष्ठित कर देती है। परम चेतन आत्मतत्व से पृथक हुआ सनातन अ श जीव अपने अमूर्त अंशों मे मग्न होजाता है। मूर्त बन्धन छिन्न-भिन्न होजाते हैं। वैसे महाप्रलय में सब एकमय हो ही जाते हैं। अमूर्त अवस्था अपने आप उत्पन्न हो जाती है। पर कालचक्र की सृष्टि और प्रलय अवस्थाओं से दूर आत्मा को जो भूमा अवस्था प्राप्त होती है, वह अमूर्त महतो महीयान्, भूमा अवस्था सभी दिव्यताभिमुख आत्माओं के आकर्षण की भूमि रही है।

अघमर्षण

ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। सृष्टि शब्द का अर्थ सृजी गई, रची गई या बनाई गई वस्तु है। नासदीय सूक्त मे सृष्टि शब्द 'वि' उपसर्ग के साथ आता है। 'वि' उपसर्ग विविधता या नानात्व का द्योतक है। सृष्टि विविध रूपा है, यह एक स्पष्ट तथ्य है। परन्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक अभी तक इस विषय में एकमत नहीं होसके है कि यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली अनेकरूपा सृष्टि किसी विशेष समय मे रची गई थी अथवा नही।

क्षणवादी बौद्ध तथा वर्तमान भौतिक-विज्ञान के आचार्यों का मत है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण अपना रूप परिवर्तित करती है। कुछ परमाणु इसके अन्दर से बाहर निकल जाते है और कुछ बाहर से आकर इसके अंदर प्रविष्ट होजाते है। यह परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है। कभी एक वस्तु को संघटित करने वाले परमाणु तिरोहित होकर किसी दूसरी वस्तु को भी जन्म देते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन अनादि काल से चला आता है और भविष्य मे भी इसी प्रकार चलता जायगा। इस रूप में समग्र सृष्टि प्रवाह से अनादि है। जैसे दिनरात का चक्र अनादि काल से चल रहा है और चलता रहेगा, वैसे ही सृष्टि भी चलती आई है और चलती जायगी। किसी भी वस्तु का यहाँ पूर्णतया विनाश नहीं होता, केवल रूप में परिवर्तन होता है।

जिस सामग्री से वस्तु का निर्माण हुआ है, वह सामग्री ज्यों की त्यों यहीं पर विद्यमान रहती है। कभी वह साग का रूप धारण करती है, कभी फल का, कभी लहू का और कभी हड्डी या चर्म का।

आस्तिक आर्यों की विश्वासी बुद्धि के अनुसार सृष्टि प्रवाह से तो अनादि है, परन्तु स्वरूपतः एक विशिष्ट समय मे एक विशिष्ट आकार धारण करती है और एक विशिष्ट समय में अदृश्य परमाणुओं के रूप मे प्रलय को प्राप्त होकर अदृश्य प्रभु के अन्दर एक निश्चित अवधि तक समाई रहती है। निश्चित अवधि की समाप्ति पर यह पुनः अपना पूर्व जैसा रूप धारण करती है। यहाँ हम इसी दूसरे मत के सम्बन्ध में वेद के आधार पर कुछ विचार प्रकट करेंगे।

सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ 'अभीद्ध तप' से होता है, ऐसा वेद कहता है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी अनेक बार इसी तथ्य की घोषणा की है। वैदिक आर्यों की बुद्धि प्रत्येक रचना के मूल मे तप की क्रिया का अनुभव करती रही है। व्यावहारिक जगत मे भी हमे तप का मूल्य दिखाई देता है। एक साधारण मकान के बनाने मे कितना परिश्रम करना पड़ता है, इसे सभी गृह-निर्माता जानते है। धन-लाभ अथवा विद्योपार्जन का कार्य भी सहज नही है। व्यवसायी अथवा विद्यार्थी को घोर तप तपना पड़ता है। तब कहीं जाकर कुछ थोड़ा सा धन अथवा विद्या हाथ आती है। अतः सृष्टि जैसी रचना अनायास ही होगई होगी, इसे कोई भी अनुभवशील विद्वान स्वीकार नही कर सकता। वेद के शब्दो मे, सृष्टि के मूल में साधारण तप नहीं, अभीद्ध-प्रज्वलित तप है। परात्पर सत्ता अभीद्ध तप करती है, तब सृष्टि का निर्माण होता है। ऋषियों ने

'यस्य ज्ञानमय तपः' कह कर तप को ज्ञान के साथ संयुक्त कर दिया है। अणुबम के निर्माण मे आज कल के वैज्ञानिकों को कितना ज्ञानमय तप करना पड़ा है, बुद्धि का कितना व्यवसाय उसके पीछे छिपा है, यह भी किसी के लिये छिपा हुआ नही है। अतः सृष्टि जैसी अनुपम रचना के मूल मे अभीद्ध ज्ञानमय तप निहित है, इसे स्वीकार करने मे किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। (परन्तु यह कथन हम जीवों की अपेक्षा से है। प्रभु के तो सभी कार्य स्वाभाविक है।)

अभीद्ध तप से रचना का जो प्रथम रूप आविर्भूत होता है, वह ऋत और सत्य कहा गया है। ऋत और सत्य इस रचना के द्विविध स्वरूप का उद्घाटन करते है, परन्तु वे दो ऐसे तत्व हैं जिनका कोई आकार नही है। ये नाम रूपात्मक जगत की प्रारम्भिक मूल अवस्था के सूचक है। इन्द्रियों के विषयों के अन्तर्गत वे नहीं आते।

ऋत और सत्य क्या हैं? ऋत शब्द 'ऋ गतौ' धातु से निष्पन्न होता है, अतः इसे हम गत्यात्मक (Dynamic) तत्व कह सकते है। 'सत्य' सत् और सत्ता का द्योतक है। इसे हम स्थिति या सत्ता (Static) का तत्व कह सकते हैं। ऋत और सत्य दोनो तत्व गति और स्थिति को प्रकट करते हैं। बनी हुई, इन्द्रियगोचर सृष्टि मे हमें यही दो तत्व कार्य करते हुए दिखाई देते हैं। इन्हे आप पुरुष और स्त्री का रूप समझिये। पुरुष तत्व प्रगतिशील है, तो स्त्री तत्व परम्परा का पोषक। एक आगे बढ़ना चाहता है, परिवर्तन-प्रिय है, नवीनता का अनुरागी है, तो दूसरा पुरातन के साथ चिपटा रहना चाहता है, स्थिति में परिवर्तन करना उसे पसंद नही है, जितना है उतना सुरक्षित रहे—यही उसकी कामना रहती

है। एक योग है तो दूसरा क्षेम। उपनिषद के शब्दों मे एक प्राण है तो दूसरा रयि। ऋत और सत्य का यह युग्म या मिथुन जड़ और चेतन दो तत्वों की ओर स्पष्ट रूप से सकेत करता है। परब्रह्म के अभीद्ध तप से ये दो तत्व सर्व प्रथम प्रकट होते हैं, परन्तु हमारी विषयात्मक दृष्टि से अगोचर, अनाम और अरूप। इन्हें नाम रूपात्मक चोला धारण करने के लिये गर्भ में जाना पड़ता है।

गर्भस्थ बालक का पिंड मूल में रज और वीर्य का संघात है। रज स्त्री तत्व अर्थात् सत्य है तथा वीर्य पुरुष तत्व अर्थात् ऋत। लगभग ५ सेर का एक चेतन मांस पिंड जब मा के गर्भ से बाहर आता है, तो उसका एक विशिष्ट आकार होता है। इस आकार को नामकरण-संस्कार के दिन एक विशिष्ट नाम दिया जाता है। परन्तु इस नाम–रूपात्मक व्यक्तित्व को इस आकार मे आने से पहले गर्भ मे रहना पड़ता है; इसी प्रकार नाम–रूपात्मक जगत को भी गर्भ जैसी एक विशेष दशा मे से निकलना पड़ता है। गर्भ में वस्तु छिपी हुई, अज्ञात और अदृष्ट रहती है। अतः वेद ने इसे 'रात्रि' नाम दिया है:—रा=दान, प्रकाश अथवा आविर्भूत नाम-रूपात्मक जगत जहाँ अपने मूल रूप मे त्र=सुरक्षित रहता है। जैसे गर्भ अन्धकार या अव्यक्त अवस्था का सूचक है, वैसे ही रात्रि भी दिन के विपरीत अन्धकार या अव्यक्त दशा को प्रकट करती है। इसी 'रात्रि' को अथर्ववेद ने ज्येष्ठ ब्रह्म तथा भागवत ने हिरण्यगर्भ का नाम दिया है। वेद मे भी हिरण्यगर्भ शब्द आता है, जिसे हम सबको अपने अन्दर बसाने वाले परात्पर ब्रह्म तथा प्रकृति की मूल अव्यक्त अवस्था के अर्थ मे ग्रहण कर सकते है; क्योंकि दोनों ही नाम–रूपात्मक जगत के 'अग्रे' अर्थात् पूर्व विद्यमान रहते है।

ऋत को हमने पुरुष तत्व कहा है, चेतन और गतिशील। ऋग्वेद में भी 'अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ' शब्दों द्वारा ऋत को पिता कहा गया है। 'सूनु' सत्यस्य सत्पतिम्' मे सत्य को माता का स्थान भी प्राप्त है। पिता और माता के सयोग से मानव सृष्टि का तन्तु आगे विस्तृत होता है। इसी प्रकार ऋत और सत्य के युग्म से यह ससार विस्तार पाता है, नाना नाम रूपों में प्रगट होता है। अथर्ववेद १२–१–१ मे इसी कारण सत्य को वृहत और ऋत को उग्र कहा गया है।

रात्रि, हिरण्यगर्भ, ज्येष्ठ ब्रह्म अथवा अव्यक्त के पश्चात जो अभिव्यक्ति सर्वप्रथम होती है, उसे वेद ने 'समुद्रो अर्णव.' कहा है। अर्णव का अथ है अर्णवान्, ध्वनिवान, शब्दमय। समुद्र का अर्थ यास्क के मतानुसार सम्+उत+द्रु अर्थात् जिसकी ओर सब दौड़ लगावें अथवा जहाँ से सब निकलकर दौड़ लगावे। दोनों शब्दों पर ध्यान देने से समुद्र का अर्थ आकाश प्रतीत होता है। आकाश में ही सब भूत जाकर लीन होजाते है और वही से सब दौड़ लगाकर वाहर आते है। समुद्र का अथ जलराशि वाला सागर भी है; क्योंकि सागर मे ही नद-नदी आदि का जल दौड़ लगाता हुआ समा जाता है और वही से वाष्प बनकर पुनः नद–नदी आदि का रूप धारण करता है। परन्तु यहाँ समुद्र का विशेषण अर्णव है। अर्णव=ध्वनि-वाले को कहते है। ध्वनि अथवा शब्द आकाश का ही गुण है। अतः समुद्रो अर्णवः का अर्थ नाना ध्वनियों, शब्दो, वाणियों से सयुक्त आकाश ही है।

यदि देश सत्य है तो काल ऋत है। एक सत्ता का हेतु है तो दूसरा क्रिया का। मूल तत्वों की दृष्टि से प्रकृति सत्य है तो पुरुष ऋत है। रचना के अन्तर्गत द्यौ पिता है, ऋत है, तो पृथ्वी माता है, सत्य है। परन्तु जैसे अन्त मे देश और काल ज्ञान मे लीन होजाते है, वैसे ही ऋत और सत्य ज्ञानमय तप मे और प्रकृति तथा पुरुष चेतनता के, चिति अथवा ज्ञान के अनन्त सिन्धु परब्रह्म मे। वेद ने इसी हेतु 'न त्वदन्यः' जितनी उत्पन्न हुई वस्तुये है और उनके चारों ओर कोष-रूप जो अन्य द्रव्य अथवा पदार्थ है, वह सब परब्रह्म से अन्य अर्थात् पृथक नही है—ऐसा कहा है। अन्तिम तत्व महाचिति अथवा अनन्त ज्ञान-पूर्ण परमात्मा ही है। उसीसे सबका प्रभव और उसीमे सबका विलय होता है। शिव और शक्ति का सुन्दर सगम वही है। वही पवमान सोम है। जो उमा के साथ रहता है, वह सोम है। उमा शक्ति है। सोम शक्तिवान शिव है। वही परम पवित्र पवमान है।

ऊपर हमने वेद के आधार पर रचना-क्रम का वर्णन किया है। इस रचना-क्रम से चार तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है:—

(१) श्रुति भगवती के शब्दों में यह रचना यथापूर्व है। जिस प्रकार की रचना प्रथम कल्प में थी अथवा उसके पूर्ववर्ती अन्य कल्पो मे थी, वैसी ही इस कल्प मे है और वैसी ही अन्य परवर्ती कल्पों मे भी होगी। इसका अत्यन्त प्रमुख और प्रसिद्ध कारण यही है कि प्रभु एकरस है। अतः उसकी रचना भी विविधरूपा होते हुए एकरस ही है। अत्यन्त अद्भुत तथ्य इस रचना के अन्तर्गत यह है कि हम इस रचना के बड़े से

बड़े और छोटे से छोटे पदार्थ मे एक ही नियम कार्य करते हुए देखते है। वैज्ञानिक कहते है कि परमाणु की बनावट और जगत की बनावट के सदृश है। एक परमाणु का अध्ययन विश्व के अध्ययन की कुञ्जी है। यदि एक को समझ लिया, तो मानों समग्र जगत समझ में आगया। जीव प्रभु का सनातन अंश, सखा या सयुजा होते हुए भी प्रकृति के पाशों में आबद्ध होकर एकरस नही रह पाता। अतएव उसकी रचना भी एकरस नही हो पाती। जीव जिन योनियों मे जाता है, वे योनियाँ वस्तुत: उसकी रचना ही है। हमारे ही कर्मो का विपाक हमें नाना योनियों के चक्र में घुमाता है। कभी हम अधे बनते है, तो कभी बहरे और गूँगे; कभी लँगड़े बनते है, तो कभी काने और कुबड़े। सौभाग्य-शाली है वे, जिन्हें भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, ज्ञान उपलब्ध होता है अथवा जो कर्म-परायण बनते है। अत्यन्त विरल है वे जीव, जो साधना से सम्पन्न हो देव-कोटि को प्राप्त करते है। इसी मर्त्य लोक मे ऐसे भी साधक, मुनि और ऋषि देखे जाते है, जिनके भाल पर प्रकाश की श्री शोभा देती है, जिनका ललाट चन्द्रमा की चाँदनी के समान चमकता है और जिनके शिर के चारों ओर ज्योति का जाल वृत्ताकार रूप में जगमगाता है। ये सब कृतियाँ जीवात्मा की ही है। कभी उसकी प्रवृत्ति निम्नगा होती है, तो कभी ऊर्ध्वगामिनी। निम्नगा प्रवृत्ति दूषित स्वरूपो को जन्म देती है और ऊर्ध्वगा प्रवृत्ति मनोरम रूप खड़े करती हैं। जो जीव जितना ही अधिक प्रकृति के पाशों से मुक्त होता हुआ प्रभु की ओर बढ़ता है, उसमे उतनी ही अधिक एकरसता अथवा दिव्यता आती जाती है। प्रभु के निकट पहुँचना

जैसे वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी चार रूप है, वैसे ही इस रचना के भी। ऋत और सत्य इसका पर रूप है, बुद्धि से भी परे, अगम्य, अगोचर। ऋग्वेद ने इसे परा अर्थात परला पथ कहा है (परा पथिभिः चरन्तम्)। रात्रि इसका पश्यन्ती रूप है, जो कुछ कुछ समझ में आता है, बुद्धिगम्य बन जाता है। समुद्रो अर्णव इसका मध्यमा जैसा रूप है। वाणी का मध्यमा रूप मन में स्पष्ट होने लगता है। आकाश भी मनस्तत्व है, जिसमे ऋक्, यजु, साम आदि की समस्त ध्वनियां ओत-प्रोत है। सूर्य चन्द्र आदि के रूप मे रचना-रूपी वाणी का बैखरी रूप प्रकट होजाता है।

हिरण्यगर्भ से आकाश रूपी बच्चा बाहर आगया। रचना का नाम-रूपात्मक अश प्रकाश पाने लगा। परन्तु अभी बैखरी अर्थात् ठोस, पिण्डात्मक अवस्था प्राप्त नही होसकी। रचना का प्रारम्भिक स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। वैज्ञानिक हमे बताते है कि रचना का प्रारम्भ ही काल का भी प्रारम्भ है। वेद भी कहता है 'समुद्रो अर्णव' के साथ ही सवत्सर अर्थात् काल उत्पन्न हुआ। काल क्या है? काल एक ऐसा तत्व है, जिसमें घटनाये घटित होती है। सवत्सर का अर्थ है, जिसमें सब बसें, व्यापार करें, क्रियाशील हों। काल के साथ ही देश का भी नाम आता है। देश वस्तुओ को स्थान देने वाला है। आकाश यदि देश है, तो संवत्सर काल है। काल के अश दिन और रात्रि है। वेद कहता है, ससार को स्वभाव से ही वश में रखने वाले प्रभु ने काल के ज्ञापक दिन और रात्रि को प्रकट किया। दिन और रात्रि के कारण सूर्य और चन्द्र है। वेद रचना में काल के अभिख्याता सूर्य

और चन्द्र का भी नाम लेता है। अन्त मे वेद देश और काल दोनो के ही अभिव्यापक द्यौ, अतरिक्ष, पृथिवी तथा सूर्य चन्द्र की उत्पत्ति बतलाता है और कहता है कि यह समग्र रचना पूर्व कल्प के ही अनुसार है।

द्यौ से लेकर पृथिवी पर्यन्त देश का भाग है। सभी वस्तुयें इसी देश मे स्थान प ती है। कीरी से लेकर कु जर तक और वनस्पतियों से लेकर सचेतन मानव तथा देवों तक सबका आश्रय इसी देश के नाना विभागों मे है। जब हम देश की लम्बाई-चौड़ाई पर विचार करते है, तो अन्त मे काल हाथ रह जाता है और जब हम काल पर विचार करते है, तो अन्त मे ज्ञान रह जाता है। इस प्रकार देश और काल दोनों का पर्यवसान ज्ञान मे होता है। यही ज्ञान मूल वस्तु है। पर—ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, इसे सभी आस्तिक स्वीकार करते है।

देश में सबसे स्थूल पृथिवी है। पृथिवी का गुण गध है। जब वायु गन्ध को निकाल लेजाता है, तो पृथिवी जल में लीन होजाती है। मिट्टी का ढेला जल मे पड़कर जल में आत्मसात होजाता है। जल का गुण रस है। अग्नि इस रस को वाष्प मे परिवर्तित कर देता है। जल वाष्प रूप मे आग्नेय बन जाता है। अग्नि वायु में और वायु अन्त मे आकाश मे लीन होजाती है। यह महाभूतों का क्रम है और यही सूक्ष्म भूतो का भी क्रम है। महाभूत सूक्ष्मभूतों के पचीकरण से निर्मित है, अतः दोनो के स्वभाव में अन्तर नही है। यह क्रम स्थूल देश का सूक्ष्म देश में विलीनीकरण प्रकट करता है, इसके विपरीत आविर्भाव का क्रम है।

मानो उसीके समान गुणो को धारण करना है, उसी जैसा बनना है। ऋग्वेद मे 'यदग्ने स्यामहं त्वं त्वना घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः' कहा गया है। प्रभु का जीवों को दिया आशीर्वाद तभी सत्य और सफल होता है जब जीव प्रभु के समान ही बन जावे।

(२) दूसरा तथ्य अघमर्षण मत्रों से यही निकलता है कि यह सृष्टि बनी हुई है। जो वस्तु एक समय मे बनी है, वह कालान्तर में नष्ट होगी ही। निर्माण और ध्वस, सृष्टि और प्रलय, उदय और अस्त, आविर्भाव और तिरोभाव सापेक्ष शब्द है। एक को दूसरे की शाश्वत अपेक्षा है। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा अनिवार्य रूप से रहेगा। पृथिवी, सूर्य, चद्र, नक्षत्र निर्मित हुए है, अतः एक दिन नष्ट भी होंगे। जैसे दिन के पश्चात् रात्रि आती है, वैसे ही सृष्टि के पश्चात् प्रलय का होना अवश्यभावी है। सृष्टि के अग रूप पदार्थ बनते बिगड़ते देखे ही जाते है। श्मशान घाट पर प्रलय का क्षणिक रूप हमारी आखो के आगे प्रस्तुत हो ही जाता है। जब अगों की यह दशा है तो अगी ससार का दूसरा रूप हो ही कैसे सकता है? यह समस्त दृश्य जगत नाशवान है—इस तथ्य को आस्तिक एव नास्तिक सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। जो बना है, वह बिगड़ेगा; जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु होगी (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्यच) और जिसकी मृत्यु हुई है, वह जन्म भी लेगा—यह एक अकाट्य सिद्धान्त है। जैन धर्म के आचार्यों ने भी पुद्गलों की समष्टि और व्यष्टि रूपा निर्मिति का निषेध नही किया। दिन और रात्रि के समान प्रवाह रूप से जगत को अनादि मानने वाले भी दृश्यात्मक ससार के आविर्भाव और तिरोभाव को स्वीकार करते ही रहे हैं।

(३) तीसरी बात इस रचना से यह प्रकट होती है कि संसार आकस्मिक रूप से बनकर हमारे सामने खड़ा नही होगया। इस रचना के मूल में एक रचयिता है और उसने एक व्यवस्थित रूप में इस रचना का निर्माण किया है। 'महाँ अभिज्ञु आयमत'—वह रचयिता महान वैज्ञानिक है। उसके समान न कोई ज्ञानी है, न विज्ञानी। उसीने इस सृष्टि को एक व्यवस्था प्रदान की है। विश्व का एक-एक अंग इस व्यवस्था मे बँधा हुआ है। रचयिता का अटल नियम-चक्र इस जगत को नियमित रूप से चला रहा है; अनन्त लोक लोकान्तरों को धुरे के समान घुमाता हुआ वह निर्माता इस जगत को एक निश्चित उद्देश्य की ओर ले जा रहा है। संसार मे जिन नियमों की खोज वैज्ञानिकों ने की है, वे भी अपने नियामक की ओर संकेत कर रहे है। यदृच्छा या आकस्मिक-रूपता इस संसार में कही भी दृष्टिगत नही होती। यहाँ अविचल नियम हैं, जिनका उल्लघन करने की सामर्थ्य किसी मे भी नहीं है। नियम-बद्धता ही विश्व के सप्रयोजन निर्माण को भी सिद्ध करती है। यहाँ कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं है। मानव की अल्प बुद्धि यदि किसी समय किसी वस्तु को व्यर्थ समझ भी ले, तो कालान्तर मे वही वस्तु अपनी सार्थकता सिद्ध कर देती है।

(४) चौथी बात पापों के मर्षण की है। यदि मैं विश्व की नश्वरता को ध्यान में रखता हूँ, तो नाशवान पदार्थ के प्रति मेरा आकर्षण और अनुराग नही होना चाहिये। जिस अविनश्वर सत्ता ने इसका निर्माण किया है, उसीके चरणों मे मेरा अनुराग सतत् जाग्रत रहना चाहिये। मैं अपनी रचना को क्यों विकृत करता हूँ और ऐसा करके क्यों दुःख का भागी बनता हूँ? मुझे उस एकरस, सत्य, सनातन विभु को

पहचानना चाहिये, जो आनन्द का भाण्डार है। उसी की संगति मुझे क्लेशों से मुक्त कर सकती है। पाप के मूल मे वह आवरण है, जिसने मुझे आच्छादित कर रखा है। यदि मै अपने ऊपर पड़े हुए इस आवरण को हटा दूं, तो पाप मेरा स्पर्श भी नहीं कर सकता। यह आवरण अहंकार से प्रारम्भ होता है और अन्नमयकोष पर जाकर समाप्त होता है। यह सूक्ष्म से स्थूल की ओर गमन है। मै जितना ही स्थूल, बहु प्रजा और आसक्ति की ओर चलता हूँ, उतना ही निऋ्ऋति मे, घोर कष्टमयी अवस्था मे पड़ता हूँ। अतएव मुझे यदि पाप और पाप के परिणामरूप क्लेश से छूटना है, तो अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होगा – विशुद्ध चेतनता की ओर प्रयाण करना होगा। वेद कहता है- "अन्ति सन्त न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति" – जीव निकट रहती हुई प्रकृति को छोड़ नही पाता और निकट ही वर्तमान चेतनता की राशि को देख नहीं पाता, इसीलिये तो कष्ट पाता है। रचना हमें चेतनता के अपार सागर, ज्ञानस्वरूप प्रभु की ओर ले जाने का स्तुत्य प्रयत्न करती है। वह स्पष्ट संकेत करती है कि हमें पाप से छूटना है तो पवित्रता के आधार परम चेतन प्रभु का संसर्ग करना होगा। जो स्वय पवित्र है, वही अपावन को पावन करने की शक्ति रखता है। परम प्रभु परम पवित्र है, पाप से पृथक और क्लेश-कष्ट को नष्ट करने वाले है। मेरे पाप उन्हींके प्रसाद से दूर होंगे। अतः मुझे सदैव उन्हींके संदर्शन में रहना चाहिये।

दृते दृ ँह मा ज्योक्ते सदृशि जीव्यासम्।
ज्योक् ते सदृशि जीव्यासम् ॥

*यह संक्षेप मे अघमर्षण सूक्त के सम्बन्ध मे लिखा गया है।

—•—।—※—।—•—

रचना के चार प्रकार

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पद कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

हमारे चारों ओर रचना के जो नाना रूप दृष्टिगोचर होते है, वे सब चार भागों मे विभाजित किये जा सकते है । इन चार विभागो मे एक क्रम है, जो क्रमिक विकास का द्योतक है । यह विभाजन और क्रम एक परम चेतन सत्ता के अस्तित्व को भी प्रकट करते है, जिसने विश्व की विभिन्न रूपता मे एक क्रमबद्ध व्यवस्था की स्थापना की है और व्यवस्थित रूप से उसका निर्माण भी किया है ।

इन चार भागों मे सर्वप्रथम ऐसे पदार्थों की रचना आती है जो विशुद्ध रूप से जड़त्व को प्राप्त है । पलक जैसे खुलते और बन्द होते दीख पड़ते है, तारे जैसे चमकते और तिरोहित होते जान पड़ते है—वैसा ही संकोच और विकास जहाँ दिखाई पड़ता है, वहाँ रचना का प्रथम भाग है । प्रकृति का अपना रूप भी सिकुड़ने और फैलने तक ही सीमित है । इन स्वाभाविक क्रियाओ के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र चेतना या प्रेरणात्मक क्रिया प्रकृति के अन्तर्गत नही है । प्रेरक तत्व उसमे चेतन के ससर्ग से उत्पन्न होते है । चेतन सत्ता ही प्रकृति को नाना रूपों की ओर ले जाती है और उनमे स्पन्दन उत्पन्न करती है । अतः रचना मे सर्वप्रथम प्रकृति का अपना विशुद्ध रूप ही परिलक्षित

होता है-जिसे वेद ने 'निमिषतः' शब्द द्वारा प्रकट किया है। 'निमिषतः' का अर्थ पलकों का खुलना और बन्द होना है, जो प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया सकोच और विकास का द्योतक है। मिट्टी का ढेला पानी पड़ते ही सकुचित और सूर्य की उष्णता पाते ही विकीर्ण हो उठता है। पृथिवी मे स्वय सकोच (Contraction) और विकास (Expansion) होता देखा जाता है। हमारे शरीर भी जाड़ों में सकुचित और गर्मी पाकर फैलते देखे गये है। जहाँ विशुद्ध जड़त्व है, वहाँ सकोच और विकास की क्रियायें उस जड़त्व के अस्तित्व को सिद्ध करने वाली बनी हुई है। परन्तु यह अवस्था पराधीनता की अवस्था है। कोई भी चेतन सत्ता प्रकृति के इन विकास–सकोच–शील पदार्थों को अपने अधीन करके इनका मनमाना उपभोग कर सकती है। मानव मिट्टी के ढेर, चूना, ककड़ और पत्थरो से अपना मकान बना लेते है। न मिट्टी का ढेर उनसे अपना विरोध प्रकट करता है, न कंकड़ और पत्थर कोई आपत्ति उठाते है। मानव जहाँ चाहता है, इन्हे ले जाता है, और जैसा चाहता है इनसे काम लेता है। इन पदार्थों मे न अपनी कोई क्रिया है और न स्वाधीनता। ये निष्क्रिय और पराधीन है। ऐसी अवस्था मे इनके किसी स्वतन्त्र क्रिया-क्षेत्र की बात करना ही व्यर्थ है। हा, ये दूसरो की क्रिया के क्षेत्र और पोषण की सामग्री अवश्य बने हुए है।

रचना मे दूसरा भाग सप्राण सत्ताओं का है। इन्हे स्वाधीनता का एक अंश अवश्य प्राप्त है, इनका एक स्वतन्त्र क्रिया-क्षेत्र भी है। वेद इन सत्ताओं को 'प्राणतः' सज्ञा देता है। इनमे प्राण है। प्राण की क्रिया उगने और बढने मे प्रकट होती है। जहाँ प्राण है, वहाँ वृद्धि है।

बीज को मिट्टी में डाल दीजिये। वह वहीं पर पड़े रहना पसन्द नहीं करेगा। मिट्टी को फोड़कर वह बाहर निकलेगा और अपने आसपास से भोजन ग्रहण करता हुआ ऊपर को बढ़ेगा। उसके अन्दर एक स्वतन्त्र क्रिया है और उस क्रिया के लिये एक क्षेत्र है, फिर वह क्षेत्र संकुचित ही क्यों न हो। वनस्पतियां, ओषधियाँ, लतायें, वृक्ष, पादप सब इसी प्राणवान सत्ता के नानारूप है। ये जहाँ हैं, वही पर अपने सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत अपना कार्य करते है। मिट्टी और पानी इनकी खूराक बनते हैं। स्वाधीनता इनकी अपनी ऐसी है कि मिट्टी और पानी मे जो तत्व इनके काम के हैं, उन्ही तत्वों को ये ग्रहण करते हैं। अन्य तत्वों को छोड़ देते हैं। ईख का गन्ना मिठास को ले लेता है, तीखेपन या कड़ुएपन को छोड़ देता है। नीम कटुतत्व को स्वीकार करने वाला है। इसी प्रकार आम, पीपल, बरगद, जामुन, अमरूद, खिन्नी, फालसा प्रभृति सभी पादप अपने उपयोगी अंशों को मिट्टी और पानी में से ले लेते हैं, अन्य अंशों को वे छूते भी नही। यह इनकी स्वतंत्र क्रिया है, परन्तु इनकी स्वाधीनता का क्षेत्र सीमित है, जिसका अतिक्रमण करना इनकी शक्ति के बाहर है। हाँ, मिट्टी के ढेले और पत्थर आदि की अपेक्षा इनका अस्तित्व अवश्य उच्चतर कोटि का है।

रचना का तीसरा प्रकार 'चतुष्पद' पशुओं मे प्रकट हुआ है। इनकी स्वाधीनता और क्रिया का क्षेत्र पादपों की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है। वृक्ष जहाँ उगा है, वही से अपनी भोजन-सामग्री ग्रहण कर सकता है। वह अपने स्थान से चलकर कोस दो कोस आगे नहीं जा सकता और न अपने स्थान को स्वय छोड़ ही सकता है। पशुओं

में ये क्रियायें पाई जाती हैं। इन क्रियाओं के लिये प्राण तो चाहिये ही, पर प्राण की भी अपेक्षा मानसिक शक्ति की विशेष आवश्यकता पड़ती है। वृक्षों में प्राणवत्ता विकसित हुई है, तो पशुओं मे मानसिक तत्व का विकास अनुभूत होता है। गाय, भैंस, बैल भूख और प्यास लगने पर रम्भाने लगते है, भोजन न मिलने पर रस्सी तोड़कर भाग भी जाते हैं और अपना अभीप्सित पूरा करते है। एक स्थान पर घास या पानी न मिला, तो दूसरे स्थान पर जाकर उसे प्राप्त कर लेते हैं। अपने बच्चों से प्रेम करने में इनके मनस्तत्व के दर्शन होते हैं। शिक्षित किये जाने पर ये अनुपम कार्यों को सिद्ध करने वाले भी बन जाते हैं। मानव ने कुत्ते, हाथी, ऊँट, अश्व आदि से अनेक कार्य लिये हैं। ये पशु मानव के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होते हुए भी देखे गये हैं। वेद ने रचना के इस तीसरे प्रकार को 'चतुष्पद' संज्ञा दी है। इनके पास वृक्षों की अपेक्षा अधिक स्वाधीनता है और इनकी क्रिया का क्षेत्र भी उनकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इसका एक मुख्य कारण इनके अन्दर मनस्तत्व का विकास है।

रचना के चतुर्थ प्रकार को वेद ने 'द्विपद' कहा है। यह द्विपद पशु नहीं, मानव है। मानव की स्वाधीनता वृक्ष और पशु दोनों से बढ़ कर है। साथ ही उसके क्रियाक्षेत्र की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। वह अपने शारीरिक भोजन के लिए ही नही, मानसिक भोजन के लिए भी देश-देशान्तरों का भ्रमण करता है। वृक्ष और पशुओं के लिये देश और काल दोनो का व्यवधान है, पर मानव देश तथा काल के व्यवधानों को चीरता हुआ अपना प्राप्य सभी देशों तथा वर्त-

मान और अतीत दोनों कालों से ग्रहण करता है। पशु अपने भविष्य के लिये कुछ भी सामग्री सञ्चित नही कर सकते, पर मानव उसे सचित करता है और बहुत दूर तक देखने की सामर्थ्य भी रखता है। यह सब उसके अन्दर बुद्धि-वैभव के विकास के कारण सम्भव होसका है। मानव अपने बुद्धि-बल से पार्थिव तत्वों, पादपो और पशुओं पर शासन करने में समर्थ हुआ है और बुद्धि बल से ही वह सब का अपने लिये उपयोग भी कर सका है। एक दार्शनिक की उक्ति के अनुसार इस विश्व मे सर्वाधिक श्रेष्ठ मानव की सृष्टि है और मानव मे भी सबसे उत्कृष्ट अश बुद्धि का है। मानव की रचना बुद्धि-तत्व के कारण सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

रचना के जो चार प्रकार ऊपर वर्णित हुए है, उनमें एक व्यवस्थित क्रम पाया जाता है। सबसे निम्नस्तर पर विशुद्ध पार्थिव तत्व हैं। यह न स्वाधीन है, न किसी स्वतन्त्र क्रिया का प्रेरक। यह निष्क्रिय और पराधीन है। इससे ऊपर की रचना–कोटियों मे पराधीनता कम होती जाती है और स्वतन्त्र क्रिया एव उसका क्षेत्र विशाल से विशालतर बनता जाता है। वृक्षों की अपेक्षा पशु और पशुओं की भी अपेक्षा मानव इन दोनों क्षेत्रों मे बहुत आगे बढा हुआ है। मानव पर आकर विकास की एक सीमा बँध जाती है, क्योंकि मानव का सर्वोच्च विकास देवत्व में है, जहाँ स्वाधीनता का नैरन्तर्य है और क्रिया क्षेत्र की असीमता। उपनिषदो ने इस विकास को 'भूमा' सज्ञा प्रदान की है। भूमा अल्पता की विपरीत अवस्था है, जिसे विशालता या व्यापकता कहा जा सकता है। रचना के इन चार विभागों मे एक क्रम औरभी है। रचना का

निम्न स्तर जहाँ घोर पराधीनता की अवस्था मे है, वहाँ उसका सर्वोच्च स्तर स्वाधीन दशा का द्योतक है×। इसीके साथ नीचे का स्तर अपने से ऊपर के स्तर की खाद्य सामग्री भी बना हुआ है। मिट्टी और पानी वृक्षों का भोजन है। वृक्ष, वनस्पति, घास, पौदे आदि पशुओं का भोजन है। पशु अन्त में मानव का भोजन है। भोजन का अर्थ यहाँ व्यापक रूप मे ग्रहण करना चाहिये। मानव के लिये उसके नीचे के सभी रचना-स्तर खाद्य-सामग्री अथवा उपयोग के साधन प्रस्तुत करते है। मानव पशुओं का दूध पीता है, उनके चमड़े से काम लेता है, वृक्षों के फल उसका भोजन बनते है, मिट्टी और पानी भी उसके शरीर के लिए उपयोगी तथा पोषक तत्व प्रदान करते है। पशु अपने से नीचे के स्तरों—वृक्षों तथा पार्थिव पदार्थों से काम लेता है और वृक्ष मिट्टी तथा पानी पर जीवित रहते है।

चेतना के विकास में 'निमिषतः' की श्रेणी जड़त्व को लिये हुए है। उससे ऊपर वृक्षादि मे प्राण पाया जाता है, जो उन्हे मिट्टी के ढेले और प्रस्तरादि से पृथक करता है। वृक्षादि मे छाल, लकड़ी आदि पार्थिव तत्व भी है, पर उनकी विशेषता प्राणशक्ति की विद्यमानता के कारण है। पशुओं में हाड़, मांस, चर्म आदि के रूप मे जड़ पार्थिव तत्व है। प्राणशक्ति पशुओं के शरीर की वृद्धि तथा संतान की उत्पादन-शक्ति

×पराधीनता दुःख है और स्वाधीनता सुख है। स्वतन्त्र चेता ही आनन्दी है। अतः विकास के स्तरो में जो जितना ही अधिक स्वतन्त्र है, वह उतना ही अधिक आनन्द के निकट है। परब्रह्म किसीके अधीन नहीं है, वह पूर्ण स्वतन्त्र है। अतः वही आनन्द रूप भी है।

में देखी जाती है, पर उनकी विशेषता मनस्तत्व के विकास में निहित है, जो उन्हें इधर उधर जाने के लिये प्रेरणा देती है तथा स्वाधीन होने के लिये उत्तेजित करती है। मानव के पास पार्थिवता, प्राणवत्ता तथा मनस्तत्व के साथ बुद्धि का विकास भी है। जो पार्थिवता रचना में चारो ओर बिखरी पड़ी है, जो प्राण और मन का तत्व आकाश में भरा पड़ा है, जो बुद्धि-तत्व रचना के प्रथम रूप 'द्यौ' मे व्याप्त है, उन सबका सुन्दर संक्षिप्त रूप मानव-रचना में निहित है। द्विपद मानव की सृष्टि की महत्ता इसी सश्लेषण के कारण है। बुद्धि का स्थान इस संश्लेषण में सर्वोपरि माना जाता है।

वेद मत्र में इस चतुर्विध रचना के सम्बन्ध में एक बात और कही गई है। रचना के चारों प्रकार पराधीनता की कोटि से निकल कर स्वाधीनता की ओर अग्रसर होरहे हैं। पर अन्तिम स्तर पर जाकर पूर्ण स्वाधीन होकर भी वे स्वेच्छा से, जानबूझकर, पराधीन होगये हैं। विकास की प्रथम कोटि जैसी है, बिना किसी ननुनच के, बिना किसी हिचकिचाहट और सशय के (क्योंकि यहाँ चेतनता का स्पन्दन कार्य ही नही करता) पराधीन रह कर चुपचाप जैसी व्यवस्थित निर्मिति बना दी गई, उसीमे अपने निर्माता का शासन स्वीकार कर चलना—वैसी ही विकास की सर्वोच्च कोटि है, जिसमें स्वाधीन होते हुए भी जानबूझ कर, स्वेच्छा से, सचेत और जागरूक अवस्था मे चेतनतम, महतो महीयान्, अणो रणीयान् सत्ता की आज्ञा पालन करना होता है। ऐसा करना इन सर्वोच्च कोटि की विकसित सत्ताओं मे स्वाभाविक रूप धारण कर लेता है। व्यवस्था और नियमबद्धता इनके जीवन की सहज संगिनी बन

जाती हैं। निम्नतम कोटि मे जड़त्व को लिये हुए आज्ञापालन है, व्यवस्था है, परन्तु उच्चतम कोटि में चेतनता लिए हुए आज्ञा पालन है, नियमबद्धता है। वेद कहता है, परम आनन्दमय प्रभु इस चतुर्विध रचना का ईश है, प्रभु है, स्वामी है। सब उसकी प्रजा है—वह राजा है। सब उसके वशवर्ती हैं—अन्तर केवल चेतना का है—कुछ अनजान में और कुछ जानबूझकर उसके वशवर्ती बने हुए है। उसके राज्य से बाहर कोई भी नहीं जासकता। विकसिततम सत्ता स्वय उसके बाहर नही जाना चाहती।

हमारा कर्तव्य यही है कि हम अपनी हवि को पवित्र से पवित्रतर बनाते हुए उस यजनीय आनन्दरूप ×प्रभु का यजन करते रहे, त्याग द्वारा उसकी पूजा करते रहे। यही कल्याण का मार्ग है।

×परब्रह्म पूर्ण आनन्दी है। वह किसी प्रकार के अभाव का अनुभव करने वाला नही है। जो अभाव का अनुभव करता है, वह आनन्द से विरहित है। मै जब तक अपने मे मग्न हूँ, किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नही रखता, तब तक मै सुखी हूँ। पर जब मै अपनी पत्नी, गृह, धन आदि के अभाव को अनुभव करने लगता हूँ, तभी दुःख-दल आकर मुझे दबोच लेता है और पराधीन होकर मै दुःखी हो उठता हूँ। विकास के क्षेत्र मे, इसी हेतु, स्वतन्त्रता या आनन्दरूपता को जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

ब्राह्मणत्व की ओर

द्विपद मानव सप्राण सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ है, ऐसा मन्तव्य आज तक के सभी दार्शनिकों का रहा है, परन्तु सापेक्ष एव तुलनात्मक दृष्टि से समस्त मानव भी एक स्तर के नही है। उनकी विचार–प्रणाली, विषय–प्रवृत्ति, प्रेरक तत्व, कार्य-सचालन, बुद्धि–वैभव, शारीरिक-सम्पत्ति आदि सभीमें विभिन्नता है। सबकी अपनी-अपनी कमाई है, जो कभी एक समान नही होती। एक जैसे अवसर मिलने पर भी मानव एक जैसे नही बन पाते। एक ही दम्पति की सन्तति विषम गुणो वाली देखी जाती है। एक ही गुरु से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों मे श्रेणिगत वैषम्य होता है। विश्व की विविधरूपता को सिद्ध करने के लिये प्रमाण एव तर्क की आवश्यकता नही है। वह तो स्वय सिद्ध है। यह विविधरूपता मानव जगत में भी ज्यों की त्यों विद्यमान है।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव की श्रेष्ठता उसके बुद्धि-वैभव के कारण ही है। अतः बौद्धिक स्तर का उच्चावच होना ही मानवों के विभिन्न स्तरों का भी प्रधान कारण है। कुछ मनुष्य बुद्धि के रहते हुए भी उससे कार्य नही लेते। वे दूसरों की बुद्धि द्वारा यत्रवत परिचालित होते रहते है। ऐसे व्यक्ति दूसरों के कार्य-साधक तो बनते है, पर अपना कार्य नहीं कर पाते और इसी कारण उनके अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का भी विकास नही होपाता। साधन रूप मे प्रयुक्त होने पर जो कुछ मिल जाता है, उसीके आधार पर उनका जीवन-यापन होता है। आहार, निद्रा,

भय और भोग तक ही उनकी निर्मिति सीमित रहती है। इससे ऊपर उठकर वे स्वतन्त्र चेता के गौरवशाली पद को प्राप्त नहीं कर पाते। आर्य संस्कृति की वर्ण-मर्यादा मे ऐसे व्यक्तियों को शूद्र संज्ञा दी गई है। शारीरिक श्रम—कठोर दैहिक तप—इनकी विशेषता है। वैदिक उक्ति 'तपसे शूद्रम्' का यही भाव है।

इस स्तर से ऊपर ऐसे व्यक्तियों का वर्ग है जो शारीरिक श्रम तो करते हैं, पर उस श्रम का लक्ष्य उनकी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति होता है। किसान खेती करता है, पशु पालन करता है, वैश्य वाणिज्य—व्यवसाय करता है, तो उसका उद्देश्य उसके अपने लिये है, किसी अन्य के लिये नहीं। इन सभी कार्यों मे कठोर तप करना पड़ता है, शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि के द्वन्द्व सहने पड़ते है, पर सबका परिणाम अपना हित होता है—यही इस स्तर का पूर्व स्तर से अन्तर है। इस अन्तर मे बुद्धि की क्रियाशीलता भी निहित है। बिना बुद्धि का उपयोग किये कोई भी व्यक्ति न खेती से लाभ उठा सकता है, न वाणिज्य—व्यवसाय से; और यदि वह बुद्धि का उपयोग नही करता, तो स्वय दूसरों के साध्य का साधन बन जाता है। ऐसी अवस्था प्रथम स्तर से ऊपर की नही कही जासकती। बुद्धि क्रियाशील होकर ही व्यक्ति को साधन मात्र होने से बचा देती है। यह स्तर वैश्यवर्ग का है।

मानव का तीसरा स्तर ऐसे व्यक्तियो का है, जो वैश्यवर्ग की अपेक्षा बुद्धि से अधिक काम लेते है। इनका कार्य समाज की रक्षा करना है जिसके लिये इन्हे अनेक उपाय सोचने पड़ते है। आन्तरिक तथा वाह्य दोनों ही प्रकार के घातको से सावधान रहना, उनकी कुटिल

चालों की जानकारी रखना, उपयुक्त समय पर जागरूक रहते हुए तत्परता-पूर्वक रक्षा के साधनों को जुटाना और निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाना, शारीरिक बल के साथ विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करना, उनके संचालन की विधि से पूर्णतया अभिज्ञ होना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनमें इस वर्ग को दक्ष होना पड़ता है। शारीरिक श्रम यहाँ भी है, पर पूर्वोक्त दोनों वर्गों की अपेक्षा अधिक बुद्धि-पूर्वक। लक्ष्य मे यहाँ आकर एक विशिष्ट अन्तर पड़ जाता है। वैश्यवर्ग के कार्यों का लक्ष्य वह वर्ग स्वयं है। जो कुछ उत्पादन उसके द्वारा होता है, उसका उपयोग अधिकांश मे उस वर्ग के लिये ही होता है। पर इस वर्ग के कार्यों का लक्ष्य समग्र समाज की रक्षा है। शूद्र बुद्धि-रहित होकर एक व्यक्ति की सेवा करता है, पर यह वर्ग बुद्धि-पूर्वक समग्र समाज की सेवा करता है। अतः कई दृष्टियो से यह वर्ग पूर्वोक्त दोनों वर्गों के स्तर से उच्चकोटि का है। यह क्षत्रिय वर्ग है।

चौथे स्तर पर ऐसे व्यक्ति है, जिनका लक्ष्य बुद्धि के उपयोग द्वारा किसी सांसारिक उद्देश्य की पूर्ति नही, प्रत्युत स्वय बुद्धि का अधिक से अधिक विकास करना है। जीवन-यापन के लिये प्रभु का सहारा तथा बुद्धि-सम्बन्धी कोई कार्य जैसे अध्यापन, पौरोहित्य आदि—इसके अनन्तर सारा समय मस्तिष्क को आलोकित करने मे लगाना—यही एकमात्र उद्देश्य इस स्तर के व्यक्तियों का होता है। आर्य सस्कृति मे यह स्तर ब्राह्मण वर्ग का माना गया है।

ऊपर जिन चार वर्गों के सम्बन्ध मे कुछ लिखा गया है, उनसे एक-एक वर्ग के अन्दर भी कार्य तथा बुद्धि-स्तर के आधार पर कई

विभाग किये जा सकते है और किये भी गये है। सत् और असत् के आधार पर सभी वर्गों के दो-दो मोटे विभाग होसकते है। पुनः इन दो के भी अनेक विभाग हो सकते है। यों मानवता की एक श्रेणी है, पर यह एक श्रेणी नानारूपा बनकर कम से कम विकास के चार स्तरों में विभाजित की जा सकती है।

अन्तर्मनोदशा तथा भावना की दृष्टि से शूद्र वर्ग चिन्तारहित जीवन व्यतीत करना चाहता है। लम्बी आयु, अनेक पुत्र-पौत्रों के बीच मनोरञ्जन करना, अपने स्वामी से प्राप्त धन के आधार पर किसी भी जोखम को उठाये बिना, निश्चिन्त होकर रहना—शूद्रवर्ग की विशेषतायें है। ऐसा जीवन मानवता के विकास का द्योतक नही है। चिन्ता विकास की प्रथम आवश्यक सीढी है। चिन्ता चिन्तन की जननी है। मानव की सार्थकता इसी चिन्तन या मनन द्वारा सिद्ध होती है। जिस व्यक्ति के जीवन में चिन्तन ने प्रवेश नही किया, वह तस्थुष की भांति स्थिर रह सकता है; चर की तरह गतिशील नहीं बन सकता। जो गतिशील नहीं है, वह विकसित भी नही है। आर्य संस्कृति मे 'जन्मना जायते शूद्रः' का भी यही अर्थ है। निश्चिन्त, मनन-रहित सभी बालकों की संज्ञा शूद्र है। संस्कार-सम्पन्न होकर ही वे द्विज कहलाने के अधिकारी बनते हैं। संस्कार निश्चित रूप से मन का ही होता है।

वैश्यवर्ग में यह चिन्ता पद-पद पर दिखाई देती है। कृषि के लिये भूमि की जुताई करनी है, उसमे खाद डालना है, बीज बोना है, पानी देना है, अंकुरित दलों की कीड़ो से रक्षा करनी है, फसल के तैयार होने पर पशुपक्षियों से उसे बचाना है, फिर काटना, गाहना, राशि-

करना—ऐसी एक नहीं, न जाने कितनी चिन्ताओं से कृषक का जीवन आक्रांत रहता है। वह इन समस्त चिन्ताओं का साम्मुख्य करता है। अल्पवृष्टि, अतिवृष्टि, उपल वृष्टि, टिड्डीदल आदि अनेक दैवी आपदायें आकर उसके जीवन को झकझोरती रहती है। वह स्थिर, निश्चिन्त जीवन व्यतीत कर ही नही पाता और इसी हेतु उसके जीवन का विकास भी होता है। इस वर्ग की विशेष चिन्तन-प्रणाली धन, समृद्धि, वैभव आदि की वृद्धि में अनुभूत होती है। वाणिज्य-व्यवसाय तथा उससे सम्बद्ध अन्य जोखम से भरे कार्य करने वाले व्यक्तियों की गणना इसी वर्ग मे होती है। मनु ने इस वर्ग को सत्यानृत का सम्मिलित वर्ग माना है।

क्षत्रिय श्रेणी वैश्य की अपेक्षा कही अधिक चिन्ताकुल दिखाई देती है। उसके प्राण सदैव हथेली पर रखे रहते हैं। उसे न शरीर का ध्यान है, न अपने पुत्र-पौत्रों का और न धन का—आवश्यकता पड़ने पर वह इन सबको ठुकरा सकता है। हां, उसकी एक कामना है, मन की एक आकांक्षा है—यह है उमकी और उसके समाज की कीर्ति। यही उसकी आन है, बाना है, विरुद है। यश रहे, प्राण या धन रहे या न रहे। कीर्ति के पिपासु क्षत्रिय, यशोलिप्सा के भूखे वीर एक सत्य की रक्षा के लिये अपने सर्वस्व की आहुति दे देते हैं, अपने प्रण पर मर मिटते हैं, पर वचन को नहीं जाने देते। यह है सत्य की सुरक्षा, पर कभी कभी क्षत्रिय का असत्, कुत्सित, क्रोधांधरूप भी दिखाई देता है। निरीहों की हत्या, अपने नाम के लिये सत्यमूर्ति विप्रों की अवमानना, धनिकों का निर्मम शोषण—दूसरे शब्दों में अपने बल का, क्षत्रियत्व

का अनुचित एवं गर्हणीय प्रयोग— यह क्षत्रियत्व का उद्योतन नहीं, अव-गमन है; उत्थान नही, पतन है; विकास नही, विनाश है। सच्चा क्षत्रिय अपने समाज को घायल होने से बचता है, सतर्क रह कर अत्याचारियों से उसकी रक्षा करता है, प्राचीन प्रतीकात्मक शब्दों में गो-ब्राह्मण का प्रतिपालक होता है। वह सत्यसध है, सत्यपक्षी है, सत्य का संरक्षक है। उसकी चिन्ता के प्रधान विषय यही हैं।

ब्राह्मण वर्ग की चिन्ता न आयु और प्राण हैं, न पशु और प्रजा है, न धन और कीर्ति है। उसका प्रमुख लक्ष्य ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति है। समष्टि दृष्टि से जो बुद्धि तत्व द्यौ के रूप मे सर्वत्र समाया हुआ है, सत का जो आलोक सर्वव्याप्त है, उसको पहचान लेना और उसके साथ अपने व्यष्टि बुद्धि तत्व को मिला देना अर्थात् धी-योग को प्राप्त कर लेना उसके ध्यान का चरम बिन्दु है। यह स्थिति चिन्तन और मनन से भी ऊपर की है। ब्राह्मण चिन्तनशील तो होता ही है, इससे भी ऊपर वह प्रकाश-सम्पन्न बनता है। ब्रह्मतेज से युक्त होकर वह अपनी गतिशील स्थिति से चारों ओर की परिस्थिति को प्रभावित करता है। उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति इस प्रकाश का अनुभव करते है और उधर चलने के लिये उन्मुख होते है। दिव्यता का आविर्भाव और उसका प्रभाव ऐसा ही होता है।

आर्य संस्कृति मे इसे ब्राह्मी वृत्ति का सम्पादन कहा गया है। मनु ने इसकी प्राप्ति के लिये स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रयी विद्या, इज्या, सुत, महायज्ञ और यज्ञ रूप साधनो का वर्णन किया है। स्वाध्याय, अप्रमत्त होकर वेद-शास्त्रादि ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों के अध्ययन मे निरत रहना,

व्रत रखना, उपवास आदि द्वारा इन्द्रिय-सयम को उपलब्ध करना, दैनिक अग्निहोत्र करना, ज्ञान-कर्म-उपासना रूप वेदत्रयी का आचरण, दर्श-पौर्णमास आदि यज्ञों का करना, गृहस्थ धर्म का पालन—सतति का प्रसव, पञ्च महायज्ञ अथवा सर्वहुत यज्ञ करना और अन्त में समग्र यज्ञ-पूर्ण जीवन को यज्ञमय ही बना देना ब्राह्मणत्व-प्राप्ति के साधन कहे गये है। अन्तिम साधन त्याग की पराकाष्ठा को सूचित करता है। ऐसे ब्राह्मण ही सन्यासी की उस प्रतिज्ञा को पूर्णतया चरितार्थ कर सकते हैं, जिनमे पुत्र-वित्त-यश सभी आकांक्षाओं के त्याग का प्रतिपादन है।

शूद्र का सत्य अपने स्वामी की सेवा है। वैश्य सत्यानृत है। क्षत्रिय सत्यसध है, परन्तु ब्राह्मण सत्य का उपासक और अपने वास्तविक स्वरूप मे सत्य की मूर्ति है।

शूद्र पराश्रित है। वैश्य स्वाश्रित एव पराश्रित दोनों ही है। क्षत्रिय स्वाश्रित अधिक है, पराश्रित कम है। ब्राह्मण संपूर्ण रूप से स्व-आत्मा पर ही आश्रित है।

शूद्र स्वामी की सेवा मे सदैव भयभीत रहता है। वैश्य विविध प्रकार के विघ्नों मे भयभीत रहते हुए भी निर्भयता का आस्वाद ले लेता है। क्षत्रिय निर्भय होते हुए भी भय से आक्रान्त रहता है, परन्तु ब्राह्मण निर्भय है। उसकी निर्भयता को किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं है। भय द्वितीय से होता है। जो किसी को द्वितीय रूप मे देखता ही नहीं है, सबको अपना ही समझता है, उसे किसी से भी भय नही होता। 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो' वेद की इस मंत्र पक्ति को जीवन में चरितार्थ करने वाला व्यक्ति प्रत्येक अवस्था मे निर्भय रहता है।

शूद्र स्थिर है, वैश्य गतिशील है। क्षत्रिय उससे भी अधिक गतिशील है। ब्राह्मण परम गतिशील होते हुए भी स्थिर है।

विकास की दृष्टि से भी मानवता के ऊपर वर्णित चारों स्तरों में एक विशेष क्रम परिलक्षित होता है। शूद्र के निश्चिन्त जीवन मे पराश्रित धन-प्राप्ति कभी-कभी कचोट पैदा कर ही देती है और वह स्वभावतः स्वाश्रित होकर धन के संचय की ओर झुक जाता है। यही उसका वैश्यत्व की ओर प्रयाण है। वैश्य धन तो पैदा करता है, पर उसकी वृद्धि और सुरक्षा की चिन्ता उसे ऐसे साधनों से सम्पन्न बनने की ओर भी प्रेरित करती रहती है, जो उसके लिये निर्विघ्न वातावरण का निर्माण कर सकें। यही वैश्यत्व का क्षत्रियत्व मे परिणमन है। क्षत्रियत्व या राजनीति अनेक वक्रताओं से संश्लिष्ट है, उसमें साम, दाम, दण्ड, भेद सभी का प्रयोग करना पड़ता है। यश का अर्जन साधारणतया सरल कार्य नही है। राजनीति में प्रवेश करके उसकी अन्तः अनार्जव अवस्था का दर्शन होता है और अन्त मे मानव वक्रता से आकुल होकर सरलता से संयुक्त जीवन की ओर अग्रसर होता है। यही ब्राह्मणत्व की ओर चलना है। ब्राह्मण सरलता की प्रतिमा है, छल-छद्म से कोसों दूर निष्कपट भोलेपन की मूर्ति है, वह सबका है, सब उसके है; फिर किससे कैसा दुराव-छिपाव। वह उन्मुक्त है, गगनवत खुला हुआ, कुसुमवत खिला हुआ, चंद्रिका के समान आह्लाददायक, सूर्य के समान प्रकाश-प्रदायक ब्रह्मरश्मियो मे स्नात, धौतमल, विगत कल्मष, शान्त, सौम्य। ऐसा ब्राह्मणत्व किस मूर्ख को प्यारा नही है? न हो, तब भी जाने अनजाने सब उसी ओर चले जा रहे है। प्रकृति माता सबको खीच-खीचकर उधर ले जा रही है। जो हठवश, प्रमाद-पूर्वक उधर नही जा रहे, नही जाना चाहते, वे अभागे हैं। अन्यथा इस मिट्टी से हटकर उस द्यौ की ओर गमन करना सभी को अभीष्ट है, अन्न से आनन्द की ओर जाना सभी का लक्ष्य है, मृत से अमृत बनना सभी को प्यारा है।

—•—।✳।—•—

चिन्तन की ओर

चिन्तन, मनन, विचारणा मानव की विशिष्ट सम्पत्ति है। मनन के अभाव में मानव की मानव संज्ञा सदेहास्पद ही है। अन्तिम समय जब शरीर चेतना-रहित होजाता है, हृदय का स्पन्दन, इन्द्रियों की गति, नाड़ी का सचालन अवरुद्ध होजाते है, तो कुछ व्यक्ति उस शरीर को जला देते है, कुछ प्रवाहित कर देते है, कुछ चील, गृद्ध आदि के आहार के लिये जगल मे फेंक देते हैं और कुछ उसे कब्र में दफना देते है। ये कार्य यही समझ कर किये जाते हैं कि वह शरीर अब किसी प्रयोजन का नही रहा, क्योंकि उसकी चेतना नष्ट होगई।

चेतना सर्व-प्रथम प्राणवत्ता मे प्रकट होती है। शरीर मे जो कुछ गति है, क्रिया है, वह प्राण का परिणाम है। प्राणशक्ति सबमें समान नही होती। कुछ व्यक्ति अल्पप्राण तथा कुछ महाप्राण होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जो थोड़ी देर कार्य करके ही थक जाते हैं, पर अनेक ऐसे भी है जो दिन भर कार्य मे जुटे रहते है और थकने का नाम भी नही लेते। कुछ व्यक्ति सबल तथा कुछ निर्बल होते है। कुछ ऐसे हैं जो पाँच सेर तक भोजन उदरस्थ कर लेते है, अजीर्ण जिनके पास तक नही फटकता, परन्तु कुछ ऐसे है जो छटाक भर अन्न को भी नहीं पचा सकते। यह अपनी-अपनी प्राण-शक्ति का चमत्कार है। मृत्यु के समय यह प्राण-शक्ति लुप्त होजाती है। उसकी अनुपस्थिति मे शरीर मिट्टी के ढेर के अतिरिक्त और कुछ नही रहता।

पर प्राण-शक्ति भी स्वतः कुछ नहीं कर सकती, यदि उसे मन का सहयोग प्राप्त न हो। महान से महान प्राण-शक्ति रखने वाले मन के पराङ्-मुख होने पर पराजित होते देखे गये है। चिन्तन के एक स्वल्प-कण ने उनकी समग्र शक्ति को बाधित कर दिया है। जो अर्जुन धनुर्धरों में अप्रतिम कहा जाता था, जिसकी अव्याहत गति के आगे बड़े-बड़े महारथी उखड़े दिखाई देते थे, वह इस विचार के आते ही कि मै अपने पितामह, मातुल, गुरु आदि से कैसे लड़ूँगा, युद्धभूमि में किंकर्तव्यविमूढ़ होगया था। उसका शरीर. काँपने लगा था, गाडीव धनुष हाथ से गिर पड़ा था। चिन्तन के एक जरा से झोंके ने उसे युद्ध के लिये सन्नद्ध होने पर भी रथ में सुला दिया था। महाप्राण द्रोणा-चार्य अनेक अक्षौहिणी सेनाओं तथा धनुर्धर महारथियों को ध्वस्त करने की सामर्थ्य रखने पर भी अपने पुत्र के तथाकथित निधन-समाचार को सुनते ही हतप्रभ हो नही, नितांत निर्जीव होगये थे। विचार मे बड़ा बल है। वस्तुतः विचार ही बल है, प्राण-शक्ति उसके समक्ष कुछ नही है। प्राण को शक्ति मन के सकल्प–विकल्पो से ही प्राप्त होती है। मन में पराजय भर गई, तो पराजय है और यदि विजय की उत्साह-गर्भित भावना आगई तो निस्सदेह विजय होगी।

मन ही मनुष्यों के बधन और मोक्ष का कारण है। स्वस्थ से स्वस्थ मनुष्य के मन में यदि किसी प्रकार उसके रुग्ण होने का विचार घर कर ले, तो वह अकाल में ही कालकवलित होजायगा। इसके विप-रीत यदि किसी रोगी को उसके स्वस्थ होने की बार-बार आशा दी जावे तो वह कालान्तर में अवश्य नीरोग होजायगा। आज से लगभग सौ

वर्ष पूर्व आर्य जाति रूढियों की दास बनी हुई थी। प्रथाओं से चिपटी हुई, परम्पराओं में लिपटी हुई, अन्धविश्वासों की आखेट बनी हुई इस जाति को न अपने आदर्शों का ज्ञान था, न उस विचार-राशि का पता था, जिसने एक दिन उसे विश्व की जातियों में मूर्धन्यस्थान प्रदान किया था और जिससे प्रेरणा पाकर यह प्रगतिशील बनी हुई थी। क्या क्यों है, इसे भूलकर लकीर के फकीर की भाँति यह विना सोचे समझे ऐसी क्रियाओं मे लीन थी, जिन्हे देखकर विदेशी हँसते थे। कुछ स्वार्थी ऐसे कठोर आक्षेप भी करने लगे थे जिनका उत्तर तक देना इसे नही आता था। दिनरात के निर्मम प्रहारों को सहन करके इस जाति का शरीर क्षत-विक्षत होउठा था। अनेक सुशिक्षित व्यक्ति इस जाति के घेरे को छोड़कर विवशता-वश दूसरों के घेरे में घुसने लगे थे। आर्य जाति अपनी सतति के इस ह्रास को देखकर भी कुछ कर नही पाती थी। विपत्ति की इस बेला मे गुजरात का एक महर्षि अखण्ड ब्रह्मचर्य का बल लेकर अपने पूर्वजो की शास्त्र-सम्पत्ति का सहारा लेकर उठ खड़ा हुआ और अपने ज्ञान-दान से इस गिरी हुई जाति को उठा के खड़ा कर गया। विचार का बल पाते ही आर्य जाति सावधान होगई। जो सम्प्रदाय अपने तर्क के तीरों से इसे घायल कर रहे थे, वे इसके ज्ञान-खड्ग को सहन न कर सके और मैदान छोड़कर भाग निकले। जब हमने अपनी प्रथाओं और परम्पराओ को ज्ञान के आलोक मे अवलोकन किया तो वे अनुचित, असगत तथा दोषावृत न रहकर उचित, सुसगत और गुण-गरिमामयी प्रतीत होने लगी। जिनसे घृणा की जारही थी, वे सम्मान की भाजन बन गई। चिन्तनशील बनते ही आर्यजाति पारतन्त्र्य के

पाशों को भी छिन्नभिन्न करके स्वाधीनता के वायुमण्डल में सांस लेने लगी।

चिन्तन और मनन के ऊपर भी निर्णयात्मिका बुद्धि का बल है। एक स्पष्ट निर्णय सूझते ही नाना सकल्प-विकल्पों के तार नष्ट हो जाते है। मानव का मन विचारो, वितर्कनाओं और विविध कल्पनाओं का पुञ्ज है। कभी एक कल्पना से प्रेरित होकर यह एक दिशा में चलता है, तो दूसरे ही क्षण दूसरी कल्पना आकर इसे दूसरी ओर मोड़ देती है। कल्पना-लहरियों के थपेड़े खाता हुआ मानव तब तक किनारे से नही लग पाता जबतक वह निर्णयात्मिका बुद्धिरूपी नौका पर सवार होकर विवेक-रूपी केवट का आश्रय ग्रहण नही कर लेता। अनेक विचारों में भी वह बल नही है, जो इस बुद्धि के एक निश्चित प्रत्यय में निहित है। सशय का दोल निश्चय के स्तभ से ही शात होता है। विचार-राशि सुनिश्चित दिशा में चलकर ही फलवती बनती है। मन का वेग बुद्धि के बाध से ही थमता है।

हृदय-रूपी अन्तरिक्ष से मनरूपी मेघ विविध विचारों की वर्षा करता है, परन्तु अनिश्चय और सशय के दोष उसे कुष्ट रोग का कारण बनादेते है। अनेक वक्ताओं और लेखको के विचार उलझे हुये होते हैं। उनमे वह स्पष्टता नही होती जो दूसरों के श्रोत्रों मे उतरकर उन्हें हृदयङ्गम करा सके। किसी सुलझे हुये व्यक्ति के विचार तुरन्त समझ में आजाते है। उनमे एक क्रम होता है, व्यवस्था होती है, सामजस्य होता है, जिसकी विवृति अन्य किसीकी व्याख्या की अपेक्षा नही रखती। ऐसे विचार एक मन से निकलकर दूसरे के मन मे तुरन्त समाजाते हैं।

वेद में इसी हेतु मन को शिवसकल्पयुक्त बनाने का आदेश है।

मन में शिव, अशिव सभी कुछ छिपा है। अविकसित, अनुन्नत प्राणी दोनों को धारण किये हुए है। पर उन्नति पथगामी मानव शिव को ही पकड़ता है, अशिव को नही; शुभ का ही सचय करता है, अशुभ का नहीं। यही शिवसकल्प निर्णयात्मिका बुद्धि के निर्माण में सहायता देते हैं।

आत्मतत्व शिव स्वरूप है। प्रकृति या माया का आवरण उसे अपने स्वरूप से पृथक करके अशिव की ओर अग्रसर कर देता है। अतः मानव का प्रयत्न अशिव से हटकर शिव की ओर होना चाहिये। मनन और चिन्तन, सकल्प और विकल्प, सश्लेषण और विश्लेषण द्वारा ही शिव एव अशिव का भेद दृष्टिगोचर होता है। अतएव मन को मयस्कर और शकर भी कहा जाता है। शम् और सुख की उत्पत्ति इन्द्रियों द्वारा अनुभूत एव उपभुक्त होती है, पर उनका कारक मन है। मन ही इन्द्रियों का नायक होने से शिवत्व का उत्पादक है। इसके उपरान्त शिव तथा शिवतर की अवस्था आती है, जो बुद्धि और आत्मा का विषय है।

सबसे अन्दर शिवतत्व है, बीच मे शकर–कल्याण कारक–अवस्था है और उसके पश्चात् शम्भव कल्याण का उत्पादन है। बीच की अवस्था मन की है। अतः यदि हम कल्याण रूप बनना चाहते है, तो हमे अपने मन को शिवसंकल्प वाला बनाना पड़ेगा। चिन्तन की ओर तो प्रवृत्त होना ही पड़ेगा, साथ ही उस चिन्तन में से अशिव को निकाल कर शिव का सचार भी करना होगा। तभी हमारे चिन्तन की सार्थकता है।

शरीर, इन्द्रिय और प्राण का परिचय हम सबको होता रहता है। मन भी हमारी पहुँच से परे नही है। इसके हथकण्डे दिन-रात देखने को मिलते है। मन से परे जो तत्व है, उन तक साधारणतया पहुँच नहीं होपाती। अतः जो हमारी पकड़ के अन्दर है, उन्हे ही हम सम्हाल भी सकते है। मन को पकड़ कर यदि हम उसे शिवत्व की ओर मोड़ सकें, चिन्तन की ओर चल कर यदि उसे शकर—कल्याणकारक-बना सके,तो हमें एक दिन शिवत्व प्राप्त होजायगा, इसमे सन्देह नही है।

बन्धन और मोक्ष

हम प्रतिदिन अन्दर से बाहर जाते है और बाहर से अन्दर। बाहर जाकर जो कुछ दिखाई देता है, वह अपने सूक्ष्म रूप में अन्दर जाकर सञ्चित होता रहता है। दर्शन की शक्ति जब धुँधली होती है, तो दीख पड़ने वाली वस्तु भी अपने वास्तविक रूप मे हमारे सामने नही आ पाती। मानव का प्रयत्न वास्तविकता की प्राप्ति के लिए होता है। वह मिथ्या अथवा असत् से हटकर सत्य की ओर जाना चाहता है। वास्तविकता अथवा सत्य की प्राप्ति ही प्रकाश है। इसी कारण हम प्रकाश की खोज मे अन्धकार से घृणा करने लगते है। प्रकाश की स्थिति जब स्थिर रूप से हमारे अन्दर समा जाती है, तो वही अमृत कहलाती है। इसी अमृत को वेद ने अदिति ज्योति कहा है।

गीता मे सत् की पाँच परिभाषायें दी गई है:—जो है, जिसकी सत्ता है, अस्तित्व है, वह सत् अथवा वास्तविक है। जो साधु है, सरल है, शोभन और धन्य है, वह भी सत् है। प्रशस्त कर्म भी सत् कहलाता है। यज्ञ, तप और दान की स्थिति सत् है और इनके लिए जो कर्म किया जाता है, वह भी सत् है, परन्तु यह कर्म श्रद्धापूर्वक होना चाहिये। अश्रद्धा से किये गये यज्ञ, तप और दान भी असत् ही हैं।❀

असत्, तम और मृत्यु तीन बन्धन है। बन्धनों को तोड़ कर स्वाधीन, स्वतन्त्र एवं निर्बाध जीवन व्यतीत करने की

❀ गीता १७–२६, २७

लालसा सभी उन्नत प्राणियों मे पाई जाती है। यह स्वतन्त्र-जीवन सत्, ज्योति और अमृत के रूप मे है। जिसने वास्तविकता के दर्शन कर लिए, क्षणस्थायी नाम और रूप के पीछे छिपी हुई अविनश्वर सत्ता को देख लिया, वह आत्म-प्रकाश में स्थित होकर अमृत तत्व को प्राप्त कर लेता है, अमर होजाता है। परन्तु असत् से सत्, तम से ज्योति और मृत्यु से अमृत की ओर प्रयाण करने के लिए जीवन को एक विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ना पड़ता है। वह मोड़ क्या है ? वे कौनसी विशिष्ट पगडण्डियाँ है, जिनपर चलकर हम अपने अभीष्ट गंतव्य स्थल—स्वातन्त्र्य, अमरत्व—को प्राप्त कर सकते है ?

जीवन मे मोड़ आते ही रहते है। जब हम आवश्यकता से अधिक भोजन करके बीमार पड़ जाते है, तो भोजन छोड़ना ही पड़ता है। अधिक विहार का भी यही परिणाम होता है। परन्तु इस मोड़ मे हमारा नही, प्रकृति का हाथ रहता है। हम स्वेच्छा से इस मोड़ को स्वीकार नही करते। हमे वह स्वीकार करना पड़ता है। यह पराधीनताकी अवस्था है, जिसे स्पृहणीय नही कहा जा सकता। जब हम स्वयं अपनी ओर से किसी मोड़ को ग्रहण करते है, विवेक-पूर्वक जीवन को किसी विशिष्ट दिशा की ओर लगाते है, तभी हम स्वतन्त्रता की ओर चलने वाले कहे जा सकते हैं।

वेद के आधार पर मुझे ऐसी तीन दिशाये दिखाई देती है, जिनकी ओर यदि जीवन को मोड़ दिया जाय, तो वह सार्थक हो सकता है। इन तीन दिशाओ का सम्बन्ध ऊपर वर्णित तीन बंधनों के साथ भी है।

व्यवहार में हम प्रायः असत् के सम्पर्क मे आते है। साधारण मानव ही नही, बड़े बड़े ज्ञानी भी असत् की चपेट से बच नहीं पाते। प्रतीयमान जगत इतनी अधिक मात्रा में हमारे साथ चिपटा हुआ है कि कभी कभी तो केवल वही ध्रुव सत्य प्रतीत होता है। इसके असत् स्वरूप को प्रतिदिन आँखों से देखते रहने पर भी हम बहुधा उसे विस्मृत ही कर देते है। मकानों को बनते बिगड़ते देखते हैं। कूड़े कर्कट को प्रतिदिन अपने हाथों से फेंकते है। फसल को तैयार होते और कटते देखते है। अनाज, अनाज का आटा, आटे की रोटी, रोटी का पेट में जाना, वहाँ हड्डी, मास, मज्जा, रक्त आदि में उसके एक भाग का परिवर्तित होना, दूसरे भाग का मलवाही इन्द्रियों द्वारा बाहर निकाला जाना, हड्डी और मांस का भी अन्त मे चिता पर भस्म होजाना—यह समस्त दृश्य प्रतिदिन आँखों के सामने आता है, पर, फिर भी, हम उसे सत् समझते है और ऐसा समझ कर ही अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते रहते है। यदि हम यह अनुभव करने लगें कि जिन्हें हम सत् समझते है, वे सत् नही, असत् है; और तो और लाखों वर्ष जीवित रहने वाले और अचल कहलाने वाले भू और भूधर भी एक दिन काल के गाल में विलीन होजायगे; समस्त सौर जगत भी एक दिन विध्वंस को प्राप्त होगा, तो कदाचित् थोड़ी सी दार्शनिक दृष्टि का हमारे अन्दर उदय होने लगे। अतः सर्वप्रथम मोड़ जो हमें अपनी जीवनचर्या मे देना है, यही है कि हम इस प्रतीयमान जगत से अपनी आँखें थोड़ी देर के लिए हटाकर, इसके मूल द्यौ की ओर ले जावें, नीचे न देखकर ऊपर की ओर देखें।

वेद में अनेक स्थानों पर इस विश्व की दो कोटियों का वर्णन हुआ है:-एक द्यौ है और दूसरी पृथिवी। द्यौ से प्रारम्भ होकर यह विश्व पृथिवी मे समाप्त होता है। द्यौ मूल है और पृथिवी शाखाओं का अन्तिम भाग। एक मे उग्रत्व अथवा तेज है तो दूसरे में दृढ़ता और सघनता।+ एक सूक्ष्म है तो दूसरा स्थूल। सूक्ष्म ही क्रमशः स्थूल में परिणत हुआ है, अतः स्थूल क्रमशः अपने कारण रूप सूक्ष्म में ही विलीन भी होगा। यह तथ्य हमे स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने की प्रेरणा देता है। हम स्थूल पार्थिवता का परित्याग करके सूक्ष्म द्यौ की ओर चलने का प्रयत्न करें—जीवन-क्रम में यह मोड़ हमे असत् से सत् की ओर ले जायगा।

गीता मे पार्थिवता के तीन घोर रूप कहे गये है। ये त्रिविध रूप काम, क्रोध और लोभ है।* पार्थिवता का अत्यन्त भीषण रूप इन तीन भावों मे दिखाई देता है। काम समस्त दुःखों का मूल है। भोग-लिप्सा, विलास-कामना मानव को पार्थिवता के पाशों मे जकड़ देती है। दार्शनिक दृष्टि से भी जीव और प्रकृति की प्रथम ग्रन्थि यही है। इसी ग्रन्थि से जीव का अवतरण आरम्भ होता है और क्लेशों की सृष्टि होती है। मोटे रूप मे आत्मसयम का अभाव ही काम का उत्पा-

---

+ येन द्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढा। ऋ० १०-१२१-५.

*त्रिविधं नरकस्येदद्वार नाशनमात्मनः। कामः क्रोधः तथा लोभः तस्मादेतत् त्रय त्यजेत्॥ गीता १६-२१॥

दक है, अथवा इच्छा शक्ति का दौर्बल्य ही काम है। क्रोध, प्रेम और ज्ञान से आँखें ओझल कर लेता है। यही क्यों, वह उन्हें नष्ट कर देने पर भी तुल जाता है। क्रोध से अभिभूत मानव अपने आपे से बाहर हो जाता है और अकाण्ड ताण्डव करने लगता है। लोभ मे ज्ञान नष्ट नही होता, प्रत्युत वह लोभ का सहायक बन कर पवित्रता पर आघात करने लगता है। जो ज्ञानज्योति मानव को मार्ग-प्रदर्शन के लिए प्राप्त हुई है, उसे मानव पाप-पथ पर अग्रसर होने के लिए सहायक के रूप मे प्रयुक्त करता है। यह निस्सन्देह भयानक अपराध है। इस प्रकार काम, क्रोध और लोभ तीनों ही मिलकर मानव के विनाश का द्वार उन्मुक्त कर देते हैं और उसके भयकर शत्रु है। तीनों ही मानव को आत्मज्ञान से हटाकर घोर पार्थिवता की ओर ले जाते है। इन तीनों पर सतर्क दृष्टि रखना ही पार्थिवता से द्यौ की ओर प्रयाण करना है–असत् से सत् की ओर चलना है—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना है। स्थूल पार्थिवता ने हमे घेर रखा है, वीर वह है जो इसके बन्धनों को तोड़कर मूल को पकड़ने का प्रयत्न करे। सत् की पकड़ पहली मजिल है, जो हमे हमारे वास्तविक घर से मिलाने वाली है, सधि कराने वाली है। आचार्यों ने इसी कारण इसे संधिनी शक्ति कहा है।

व्यवहार मे मानव एक दूसरे के संपर्क में आते है। कोई मित्र बनता है, कोई शत्रु। किसी से राग होता है, तो किसीसे द्वेष। किसी के प्रति उदासीन भाव भी जाग्रत होता है। राग करने में सुख और द्वेष करने मे दुःख का भाव सन्निहित रहता है और इन दोनों युग्मो का परिणाम ज्ञान और प्रयत्न में दृष्टिगोचर होता है। वैशेषिक दर्शनकार

ने इसी हेतु इच्छा (राग) और द्वेष को आत्मा के लिङ्गों में प्रथम स्थान दिया है। जीव की जीव सज्ञा इन्ही दोनों भावों से प्रारम्भ होती है। पीछे हम काम का घोर पार्थिव रूप देख चुके है। काम का सूक्ष्म रूप जो जीव और प्रकृति की प्रथम ग्रन्थि बनता है, वही राग या इच्छा का भाव है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' लिखकर नासदीय सूक्त के ऋषि ने इसीकी ओर सकेत किया है। सृष्टि का आविर्भाव भी इसी शक्ति से होता है।

राग या इच्छा की विपरीत वृत्ति का नाम द्वेष है, जिसका घोर पार्थिव रूप क्रोध मे दिखाई देता है। जिस वस्तु की मै कामना करता हूँ, उसे मै प्राप्त कर ही लूँगा, यह कोई आवश्यक नियम नही है। जब वह वस्तु मुझे प्राप्त नही होती, तो मै दुःखी होता हूँ और प्राप्ति में अवरोध डालने वाले तत्वो के प्रति द्वेष करने लगता हूँ। यही द्वेष बढकर क्रोध का रूप धारण कर लेता है। अतः क्रोध काम से ही उत्पन्न होता है। ×गीताकार ने इस कारण, कार्य की सरणि को आगे बढाते हुए क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-भ्रश, स्मृतिभ्रश से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से सर्वस्व के नष्ट होजाने का उल्लेख किया है।※जो वृत्ति सर्वस्व

× कामात् क्रोधोऽभिजायते। गीता

※ क्रोधाद्भवति समोहः समोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृति-भ्रशाद् बुद्धि-नाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

(गीता २–६२, ६३)

के विनाश की जड़ है, उसके नष्ट कर देने या कम से कम रोक देने में ही कल्याण है।

वेद ने इसके लिये जो उपदेश हमे दिया है, वह वैदिक सध्या के मनसा परिक्रमा वाले मत्रों के अन्त मे आता है। वेद में और भी कई स्थानों पर इस उपदेश का वर्णन है। इसके शब्द हैः— "योऽस्मान् द्वेष्टि यं वय द्विष्मः त वो जभे दध्मः।" जो मुझसे द्वेष करता है और परिणामतः मै जिससे द्वेप करने लगता हूँ, उसे मै प्रभु के न्याय पर छोड़ता हूँ। प्रभु का न्याय रूप जबड़ा ही इसका निर्णय करे। मै अपनी ओर से किसीसे भी द्वेष नही करता, परन्तु यदि कोई प्राणी अकारण या अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण मुझसे द्वेष करता है और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में मेरे अन्दर भी द्वेष का भाव जाग्रत होजाता है, तो उसे प्रभु ही देखे। वही समझे।

वेद के शब्दों में मुझे स्वय द्वेष से दूर रह कर अपना कार्य (कर्तव्यकार्य) करते रहना चाहिये और यदि कोई मुझसे द्वेष करने लगता है, तो उसे प्रभु पर छोड़ देना चाहिये। प्रभु सर्वद्रष्टा हैं। वे स्थिर रूप से विचर्षणिः (सबको देखने वाले) हैं। उनकी व्यापक दृष्टि से कोई ओझल हो ही नहीं सकता और उनकी न्यायी दंष्ट्राओं से भी कोई बच नहीं सकता। अतः वे देख ही रहे हैं। उनका व्यवस्था-चक्र अटल रूप से चल रहा है। फिर मै क्यों किसीसे द्वेष करूं ? वह द्वेष जो मेरे ही विनाश का हेतु बनता है, क्यों मेरे ऊपर सवार हो ? द्वेष करके मैं अपने ही अकल्याण का कारण क्यो बनूं ? इस प्रकार व्यवहार में मुझे अपनी ओर से द्वेष की समाप्ति कर ही देनी है और यदि कोई प्राणी मुझसे द्वेष करता है, तो उसे प्रभु के ऊपर छोड़ देना है। इस

द्विविध वृत्ति से मै तम के पार हो सकता हूँ और आत्मरूप मे अव-स्थित होकर उस ज्योति के दर्शन कर सकता हूँ, जिसके आलोक मे निर्भयता और सुख का अजस्र स्रोत छिपा पड़ा है। इसी ज्योति का दर्शन सवित शक्ति की प्राप्ति कहलाता है, जो तम रूप आवरण को विच्छिन्न कर देती है।

काम और क्रोध के मूल या सूक्ष्म रूप इच्छा और द्वेष को समाप्त करने के उपरान्त लोभ के सूक्ष्म रूप पर विजय प्राप्त करने का अवसर आता है। काम और क्रोध अथवा इच्छा और द्वेष ज्ञान को दबाकर अथवा अज्ञान अवस्था में क्रियाशील बनते है। ज्ञान के उदय होते ही ये नष्ट भी होजाते है। ऊपर, इसी हेतु, हमने इच्छा और द्वेष की समाप्ति पर संवित शक्ति का आविर्भाव माना है। जब तक ये दोनों विद्यमान है, तब तक ज्योति दबी रहेगी। ज्ञान का आलोक ही तम रूप इच्छा और द्वेष को नष्ट कर सकता है। परन्तु ज्ञान के उदय से भी, सवित या चित् शक्ति के हाथ आजाने पर भी, आत्मा के सपूर्ण शत्रुओं, आवरणों या बन्धनों का विनाश नहीं होजाता। सब से बड़ा शत्रु लोभ अभी अवशिष्ट है। लोभ के सूक्ष्म रूप पर जब तक विजय प्राप्त नही होजाती, तब तक मृत्यु अनेक बार आ-आकर हमे कुचलती रहेगी। लोभ के सूक्ष्म रूप को घातक शत्रु कहा गया है। यह जब तक जीवित है, तब तक अमृत कहाँ, आनन्द कहाँ?

डाण्टे ने 'इन्फर्नो' मे जिस नरक का वर्णन किया है, वह एक गर्त है, जो ऊपर तो चौड़ा है, परन्तु नीचे की ओर जाते जाते सकीर्ण होता गया है। इसके ऊपरी तल पर काम के आखेट बने हुए पापी पुरुष

पड़े है; बीच मे हिंसक पापियों का स्थान है; परन्तु सब से नीचे वे पापी है, जिन्होंने अपनों और परायों को धोखे मे डालकर अपना उल्लू सीधा किया है; लोभ मे पड़कर अपना स्वार्थ-साधन किया है। ज्ञान की ज्योति इनके पास थी, पर वह इन्हें बचा नही सकी; उलटे वह ज्योति स्वय इनके चंगुल मे फँसकर इनकी स्वार्थसिद्धि का साधन बन गई। लोभ, इसी कारण, पापों का शिरोमणि ही नही, पापों का मूल भी है। इसके सूक्ष्म रूप का विनाश ही आत्मा को अमरत्व की ओर ले जाने वाला है।

लोभ पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है? वेद कहता है:— 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'— हम हवि बनकर उस आनन्द रूप प्रभु की पूजा करें। आनन्द या अमरत्व सम्पादित करना है, तो हमे हवि के समान, जो सर्वात्म भाव से अपने को अग्नि के सुपुर्द कर देती है, बलि-दानी और त्यागी बनना पड़ेगा। साधारण अग्निहोत्र में जो हवि डाली जाती है, उसकी पवित्रता पर पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। जीवन को हवि रूप बनाने के लिए हमें उसे पवित्र करना होगा। लोभ की भावना, हवि, त्याग एवं बलिदान से एकदम विपरीत भावना है। लोभ और त्याग एक साथ नही चल सकते, क्योंकि दोनों ३६ के अंक की भांति एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल है। लोभ के साथ मल, गन्दगी, अपवि-त्रता लगी रहती है। अतः इनसे हटकर, पवित्र बनते हुए, हमे त्याग का भाव अपनाना चाहिये। पवित्र हुए व्यक्तित्व का बलिदान ही फल लाता है। पवित्र हवि की आहुति ही वायुमण्डल को सौरभ-सम्पन्न एवं पावन बनाती है। अपावन हविष्य की चिराँयद से मस्तिष्क घूर्णित

होने लगता है और मनुष्य बरबस कुम्भक करके उसके प्रभाव से दूर होजाने का प्रयत्न करता है। पावन वायुमण्डल की स्वास्थ्यप्रद तरंगें सबको अपनी ओर आकर्षित करती है। जिस त्याग के मूल मे पवित्रता निहित है, वह अवश्यमेव सफल होगा।

१७ वी शताब्दी मे, मुगलों के अत्याचारों से पीड़ित होकर, जब अनेक हिन्दू गुरु तेगबहादुर के समीप पहुँचे, तो गुरु ने कहा:–'धर्म की रक्षा किसी पवित्र महाप्राण का बलिदान चाहती है।' गुरु तेगबहादुर के भोलेभाले सुकुमार पुत्र ने कहा:–'पिता जी, आपसे बढकर पवित्र और कौन होगा।' पवित्र पिता ने पवित्र पुत्र की पवित्र पुकार को सुना और पथ की भावी नीति का निश्चय करके, दिल्ली मे, धर्म की रक्षा के लिये जाकर बलिदान होगये। सिक्ख साम्राज्य की स्थापना के मूल मे ऐसे ही पवित्र बलिदान थे।

लोभ का घोर पार्थिव रूप अन्याय द्वारा अर्थसचय मे प्रगट होता है। अर्थ भोग का साधन है। मानव का मूल्य भोग में नहीं, योग मे है, सचय मे नही, त्याग मे है, स्वार्थ मे नही, यज्ञ मे है। भोगी मानवों को कोई जानता भी नही, जानता भी है, तो उनके नाम पर थूकता है; परन्तु दूसरो के लिए कष्ट सहन करने वाले, परमार्थी, त्यागी एवं बलिदानी व्यक्तियों के नाम सहस्राब्दियों तक श्रद्धापूर्वक स्मरण किये जाते है। उनका जीवन कोटि-कोटि मानवों को प्रेरणा देनेवाला सिद्ध होता है। वे स्वय तो पार हुए ही, न जाने अन्य कितनों को पार कर गये और अभी आने वाली न जाने कितनी पीढियों को पार न कर जावेंगे।

चद चादी के टुकड़ों के लिए अपनों को ही धोखा देने वाला, विश्वासघाती, लोभी सबसे अधमकोटि का पापी इसी कारण है कि वह ज्ञान-ज्योति के साथ व्यभिचार करता है। मार्ग-प्रदर्शक बुद्धि को अपने स्वार्थ-साधन का अस्त्र बनाता है। लोभ के विभीषक ससारी रूप से हटकर हम सत् की ओर प्रयाण करते है, तो इसके सूक्ष्म रूप से हटकर हम मृत्यु पर विजय प्राप्त करते है। वेद में अनेक स्थलों पर यज्ञ की महिमा गाई गई है। समग्र जीवन को यज्ञ रूप बनाने का उपदेश दिया गया है। यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २९ मे जहाँ आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि को यज्ञमय बनाने की शिक्षा है, वहाँ मन और हृदय मे निहित ज्ञान-ज्योति को भी यज्ञरूप बनाने के लिए कहा गया है। ऋग्वेद ५-१९-२ मे जहाँ 'चितयन्तः' अर्थात् ज्ञानी बनने का सन्देश है, वहाँ 'जुहुरे' अर्थात् त्यागी बनने की शिक्षा पहले है। ज्ञानी को त्यागी इसलिए बनना है कि कही उसका ज्ञान लोभ का साधन बनकर उसे स्वार्थ की ओर न घसीट ले जाय। बड़े से बड़े ज्ञानी लोभ के शिकार बनकर, अपवित्रता के थपेड़े खाते हुए, नारकीय जीवन व्यतीत करते देखे गये हैं। यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १२ मे कोरे विद्यारत प्राणियों को जो घोर अन्धकार में गिरने की बात लिखी हुई है, उसका आधार भी यही है। ज्ञान को भोग का, स्वार्थ का, लोभ का साधन नही; यज्ञ, त्याग और बलिदान का साधन बनना है। ज्ञान की शोभा त्याग भाव में है। इसलिये वेद कहता है, जीवन को हवि रूप बनाओ। हवि बनकर ही हम आनन्द रूप प्रभु के उप=समीप, आसन=बैठने के योग्य बन सकते है। मृत्यु से दूर होकर अमृत की उपलब्धि कर सकते है। आचार्यों ने इसी को ह्लादिनी शक्ति की प्राप्ति कहा है।

असत्, तम और मृत्यु तीन बन्धन है। इनसे छूटकर हमें सत्, ज्योति और अमृत को प्राप्त करना है। वैसे असत् ही तम है और तम ही मृत्यु है, परन्तु भाव के क्षेत्र में इन तीनों के स्तर पृथक पृथक हैं। इसी प्रकार सन्धिनी, सवित और ह्लादिनी शक्तियाँ भी एक ही तत्व के तीन रूप है, परन्तु प्राप्ति के पड़ावों मे उनकी भिन्नता अनुभूत होती ही है। यह भी सत्य है कि एक की ओर प्रयाण करने मे दूसरा एकदम परित्यक्त नहीं होजाता, उसका भी कुछ न कुछ अंश आ ही जाता है, पर मानव को अन्तिम तत्व के एकाग को नहीं, सर्वांग को समझने और हृदयङ्गम तथा आत्मसात् करने की आवश्यकता है। आचार्यों ने इसी हेतु एक एक अङ्ग को समझाने का प्रयत्न किया है। सत् सधिनी शक्ति है, जो उस परात्पर सत्ता के साथ आपकी सन्धि करा सकती है। ज्योति, चित् अथवा सवित शक्ति है जो उस सत्ता को प्रकाश में ला सकती है, उसका ज्ञान करा सकती है, परन्तु ज्ञान तक ही हमे अपने को सीमित नही कर देना है, ज्ञान को भी यज्ञरूप बनाकर हमे अमृत, आनन्दरूप ह्लादिनी शक्ति की प्राप्ति करनी है। सत् में काम, क्रोध तथा लोभ का घोर पार्थिव रूप दूर होता है। सवित मे काम तथा क्रोध के सूक्ष्म रूप नष्ट होते है। ह्लादिनी मे लोभ का भी सूक्ष्म रूप नष्ट होजाता है। इस प्रकार बन्धन त्रय से छूटकर हम मोक्ष रूप अमृत का आस्वादन करने में समर्थ होजाते है। द्यौ का ध्यान, अद्वेष की स्थिति तथा अपने को हविरूप बनाना इस मोक्ष के तीन साधन है।



अवतारवाद

भारत के उत्तराखण्ड के निवासियों की विचारधारा पर दाक्षिणात्य आचार्यों की विचारधारा का गम्भीर प्रभाव पड़ा है। दार्शनिक क्षेत्र में जितने भी वाद प्रचलित हैं, वे प्रायः सबके सब दक्षिण के इन मनीषी आचार्यों के मस्तिष्क की ही उपज हैं। अद्वैतवाद के प्रणेता आचार्य शकर दक्षिण के निवासी थे। विशिष्टाद्वैत के प्रचारक आचार्य रामानुज भी दक्षिण के ही थे। द्वैताद्वैत के समर्थक आचार्य निम्बार्क, त्रैतवाद के अनुमोदक आचार्य मध्वभट्ट और शुद्धाद्वैत के सृष्टा आचार्य वल्लभ—सभी दक्षिण के है; दक्षिण से चलकर उत्तराखण्ड को ही इन्होंने अपने विचारों के प्रचार एवं प्रसार का क्षेत्र बनाया। उत्तर की समतल-भूमि—इरावती, गङ्गा, यमुना और सरयू की विमल जल-वीचियों से सिंचित पावन अन्तर्वेदिका–दाक्षिणात्य ही क्यों, सबके लिये पवित्र तीर्थ-भूमि रही है। इस भूमि के निवासियों की उदारता भी लोक-प्रख्यात है। अतः इस भूमि ने सभी जनमङ्गल-विधायिनी भावनाओं और धारणाओं का सम्मान किया है। इसने मानव मानव में कभी भेद का सृजन नहीं किया। तभी तो एक दूसरे के विरोधी वाद यहां स्थान पाते रहे और एकदम भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को यहाँ प्रश्रय मिलता रहा।

आचार्य शंकर का अद्वैतवाद बौद्ध दर्शन की प्रतिक्रिया थी। जबसे इस अद्वैतवाद का प्रचार हुआ, तबसे कोई न कोई आचार्य इसका खण्डन करने में लगा ही रहा। पर आश्चर्य की बात यही है कि श्री

मध्वभट्ट को छोड़कर कोई भी ऐसा दूसरा आचार्य नहीं निकला जो अद्वैतवाद शब्द का एकान्त तिरस्कार कर सका हो। अद्वैतवाद का खण्डन तो सबने किया, पर इसी शब्द के पीछे कोई न कोई विशेषणात्मक पुछल्ला लगाकर। किसी ने विशिष्ट, किसी ने द्वैत और किसी ने शुद्ध शब्द अद्वैतवाद मे जोड़ा और अपने नवीन सिद्धान्त का प्रचार किया। मै तो इसे अद्वैतवाद की ही विजय मानता हूँ। हां, आचार्य मध्वभट्ट का त्रैतवाद इन सबसे पृथक है और साधारण जन-समुदाय की मनोवृत्ति के निकट भी।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म की सत्ता ही सत्य है, अन्य सब कुछ असत् है, मिथ्या है। असत् प्रपच की समस्याओं को सुलझाने के लिए इसमे ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति, माया को भी स्वीकार किया जाता है। जिन्हे हम जीव कहते है, वे भी अन्त मे ब्रह्म का ही रूप है और यह जो जड़ जगत दिखाई दे रहा है, वह भी अपने नाम और रूप को छोड़कर उसी ब्रह्म मे लीन होजाता है। अतः सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व ही नही हैं। अद्वैतवाद के अनुसार जब सब कुछ ब्रह्म ही है, तो जो मत्स्य, कच्छप, वाराह आदि अवतार माने जाते हैं, उनके ब्रह्म होने में कौन विकल्प कर सकता है? प्रश्न यहां यह उत्पन्न होता है कि जब सब कुछ ब्रह्म ही है, तो अवतार किसका और क्यों होता है? अद्वैतवादी इसका उत्तर देने के लिए मायावाद को खड़ा कर देते है। मायावाद के अनुसार जीव-सज्ञक ब्रह्म की कई कोटियाँ है। जो जीव जितना ही अधिक माया के प्रभाव से पृथक होता जाता है, वह उतना ही अधिक आत्म-साक्षात्कार के निकट

पहुच जाता है। पूर्ण आत्मबोध ही माया के प्रपच से पार्थक्य सूचित करता है। अतः माया-लिप्त जीवो का उद्धार करने के लिए अवतार होता है। यह अवतार भी ईश्वर-पद प्राप्त जीवों का ही होता है।

भगवद्गीता मे कृष्ण भगवान कहते है:—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश सम्भवम् ॥ १०-४१ ॥

अर्थात् जिस प्राणी में विभूति, श्री और तेज दिखाई पड़े, वह भगवान के अंश से ही उत्पन्न हुआ है—ऐसा समझना चाहिए। ईश्वर इन विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न जीव का ही नाम है। अद्वैतवादियों ने विकास के क्षेत्र में ईश्वर को ब्रह्म से नीचा स्थान दिया है। अवतार भी वे इस ईश्वर का ही मानते है, ब्रह्म का नही। परन्तु जब अद्वैतवाद के स्थान पर आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया तो ईश्वर और ब्रह्म का भेद जाता रहा। संसार भी असत् न होकर सत् होगया। कनक-कुण्डल न्याय के अनुसार यदि स्वर्ण सत्य है, तो उससे बना कुण्डल भी उतना ही सत्य है। अतः यदि ब्रह्म सत्य है, तो उससे बना ससार असत्य कैसे हो सकता है। शुद्धाद्वैतवाद से प्रभावित होकर ही गोस्वामी तुलसीदास ने राम को साक्षात् ब्रह्म का अवतार स्वीकार किया।

विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद के अनुसार तो जीव जितना ही अधिक प्राकृतिक पाशों से मुक्त होता जाता है, उतना ही अधिक वह ब्रह्म का निकटवर्ती बनता जाता है। उपासना करने से उपासक अपने उपास्य देव के उप अर्थात् समीप पहुँचने की शक्ति उपलब्ध कर लेता है। यदि मैं किसी के समीप बैठता हूँ, तो इस सामीप्य का कुछ न कुछ

प्रभाव तो मेरे ऊपर पड़ता ही है। अंग्रेज़ी की कहावत के अनुसार Society has a great effect अथवा A man is known by the company he keeps —सत्सङ्ग का प्रभाव अवश्यम्भावी रूप से पड़ता है। इसी प्रकार यदि कोई प्राणी सतत जागरूक रह कर ब्रह्म के निकट बैठने का प्रयत्न करता है, तो ब्रह्म के गुणों का आविर्भाव उसके अन्तस्तल मे होगा ही। जिसने ब्रह्म के गुणों को धारण कर लिया, वह वास्तव मे ब्रह्मवत होगया। ब्रह्म के निकट बैठे हुए ऐसे ही प्राणी जब जन्म लेते है, तो उन्हे अवतार की सञ्ज्ञा प्राप्त होजाती है। जैनधर्म में वीतराग जीवों को ही तीर्थंकर और ईश्वर की उपाधि प्राप्त हुई है। अतः सिद्धान्त की दृष्टि से, तात्विक रूप में इन दोनों अवस्थाओं मे कुछ भी अन्तर नही है।

महाभारत मे एक स्थान पर नर और नारायण नाम के दो ऋषियों का उल्लेख है। वहा यह भी कहा गया है कि नर और नारायण ऋषि ही द्वापर के अन्त में अर्जुन और श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हुए। गीता में भी भगवान कृष्ण ने अपने अनेक जन्मों की बात लिखी है। महाभारत ने श्रीकृष्णजी को योगाचार्य माना है। योगी अपने पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसीलिए श्रीकृष्णजी कहते है:—

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि, नत्व वेत्थ परन्तप ॥ गीता ४–५ ॥

"हे अर्जुन मेरे और तेरे अनेक जन्म, इस जन्म से पूर्व होचुके हैं। पर मैं तो उन सब जन्मों की बात जानता हूँ, तू नहीं जानता।" इन प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि दो जीव अपना विकास

करते हुए नरत्व और नारायणत्व की कोटि तक पहुंच गये। अर्जुन नर है, तो श्रीकृष्ण नारायण है। अर्जुन मध्यम पाण्डव है–युधिष्ठिर के देवत्व से नीचे, पर भीम के पशुत्व से ऊपर। इसी कारण वह नर है, शुद्ध मानव है। मानव योनि मे जन्म लेकर भी वास्तव मे मानव बनना विरले प्राणियों के ही भाग्य की वस्तु है। भर्तृहरि ने तो साहित्य-सङ्गीत-कला से विहीन मानव को ही पूंछ और सींगों से विहीन पशु कह दिया है। नरत्व वास्तव मे लोक-दुर्लभ वस्तु है, जिसकी प्राप्ति के लिए सभी को सचेष्ट होना चाहिए। अर्जुन इस नरत्व को प्राप्त कर चुके थे। वे अनेक मानवों मे ऐसे मानव थे, जिनको वास्तव मे मानव कहा जा सकता है।

नारायण का अर्थ है–नारा है अयन जिसका। मनुस्मृति में 'आपो-नारा इति प्रोक्ता' कह कर नारा का अर्थ जल किया गया है। जल को भी श्लोक के आगे के चरण में नरसूनु अर्थात् प्रभु की सन्तान कहा गया है। कुल्लूक भट्ट ने इसकी व्याख्या में लिखा है:—"आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमयनमाश्रय इत्यसौ नारायण इत्याग-मेष्वाम्नातः।" आप अर्थात् जल इस ब्रह्मरूप से अवस्थित परमात्मा का पूर्व अयन अथवा आश्रय है। इसी कारण शास्त्रों में उसकी नारा-यण सज्ञा प्रसिद्ध हुई है। अतः जो प्राणी व्यक्त से अव्यक्त की ओर चलता है, जो इस विश्व के आश्रय स्थान को पहिचान लेता है और जो इस कार्य के कारण को जान जाता है, वह नारायण बन जाता है। ऐसे दो विकसित आत्मा नर और नारायण ऋषि हुए और वही द्वापर के अन्त मे अर्जुन और श्रीकृष्ण के रूप मे अवतरित हुए। इस व्याख्या मे

न अद्वैतवाद का विरोध है, न विशिष्टाद्वैत का और न जैन धर्म के सिद्धान्त का। मूल वस्तु एक है, जिसे श्रुति भगवती के शब्दों में 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' विद्वानों ने विविधि रूपों मे वर्णित कर दिया है।

अब त्रैतवाद की दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहिये। त्रैतवाद मे प्रकृति, जीव और ब्रह्म तीन तत्त्व अनादि हैं। त्रैतवाद में प्रकृति का विकृत रूप यह समग्र जड़ जगत है। जीव अपने कर्मों के अनुसार ऊँची नीची विविधि प्रकार की योनियों में भ्रमण करता रहता है। प्रलय काल में सब ब्रह्म मे निवास करते है। उस अवस्था को न सत् कहा जा सकता है और न असत्। प्रलय के पश्चात् सृष्टि और सृष्टि के पश्चात् प्रलय का चक्र दिन रात की तरह चला करता है। इस चक्र मे जो जीव ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय द्वारा अपने को जड़त्व से असपृक्त तथा चैतन्य से ओत-प्रोत कर लेता है, वह उस परम ज्योति के दर्शन करता है और जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। जो अवस्था जैन धर्म के तीर्थंकरों की है, वही त्रैतवादियों के मुक्त जीवों की है। सिद्ध शिला आदि बाह्य आवरण सम्बन्धी बातों को विचार कोटि से पृथक कर दिया जाय, यद्यपि प्रतीक भावना से उनका भी महत्व है, तो अन्तिम अवस्था के सम्बन्ध मे सर्वत्र ऐकमत्य ही सिद्ध होता है। आचार्य वल्लभ ने मुक्ति या मोक्ष को हरि लीला मे भाग लेने की अपेक्षा से हेय सिद्ध किया है, पर उनका पुष्टिमार्ग है मोक्ष का ही साधक। यह पुष्टि मार्ग भगवान के अनुग्रह को समस्त सिद्धि का हेतु मानता है—जो नया

सिद्धांत नही, वैदिक काल से ऋषि मर्यादा में प्रचलित रहा है। वेद में 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि' और उपनिषद मे 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' अत्यंत प्रसिद्ध वाक्य है ।

त्रैतवाद वाले मुक्ति से पुनरावृत्ति मानते हैं। इसमें भी अन्य मत वालों को कोई विप्रतिपत्ति नही हो सकती, क्योंकि चक्रवत परिभ्रमण करने वाले संसार की सत्ता सबने स्वीकार की है। अवतारवाद भी वही चक्र है और अनिर्वचनीय माया का ब्रह्म के साथ जो सम्बन्ध है, उसका भी यही परिणाम है। जैन धर्म वाले तो स्वरूप से ही जगत को परिभ्रमण शील मानते हैं।

तार्किक दृष्टि से बौद्धों का शून्यवाद चक्रवत् परिभ्रमण मानकर भी उसका अंत मे अत कर देता है। मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानने वाले भी कुछ ऐसी ही बात कहते है। यह निर्वाण है, बुझ जाना है, सब कुछ समाप्त हो जाना है। पर इसमे भी दो मत है:—एक निर्वाण को अभावात्मक मानता है और दूसरा भावात्मक। योगदर्शन की असंप्रज्ञात समाधि भी इसी कोटि मे आती है।

विश्व मे अनेक वाद प्रतिष्ठित हुए, पर कोई वाद विश्व की समस्या को पूर्णरूप मे सुलझा सका है—ऐसा कहना कठिन है। सबका प्रयास इस दिशा में हुआ है और सब लगभग एक जैसी बात ही कह कर रह गये है।

—❀—

महापुरुष मीमांसा

महापुरुष किसे कहते है ? उसमें क्या विशेषताएँ होती हैं ? उन विशेषताओं का व्यक्तिगत एवं सामाजिक मूल्य क्या है ? महापुरुष के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए इस प्रकार की प्रश्नावली स्वभावतः एक जिज्ञासु के मानस मे उत्पन्न होने लगती है ।

महापुरुष की महत्ता का प्रमाण क्या है ? इस महत्ता को हमें किस कसौटी पर कसना चाहिये ? तत्व चिन्तकों ने इन प्रश्नों पर अनेक प्रकार से विचार किया है । पाश्चात्य मनीषियों ने मानव मस्तिष्क का विश्लेषण करते हुए उसमे तीन शक्तियों की प्रधानता स्वीकार की है । ये तीन शक्तियाँ है:—Cognition, will and feeling अर्थात् ज्ञान, इच्छा और अनुभूति । न्याय दर्शन मे आत्मा के छः चिह्न, बतलाये गये है:—ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख । पूर्वोक्त तीन शक्तियो मे इन छः चिह्नों का समावेश सुगमता से होसकता है । मानव विकास में इन तीन शक्तियों का अत्यधिक महत्व है । जिस मनुष्य ने अपनी इन शक्तियो का समुचित विकास किया है, वह वास्तव मे महापुरुष है । इस महापुरुष मेउच्च कोटि का ज्ञान होगा । सत्कार्य करने की उत्कट इच्छा और उसकी पूर्ति के लिये प्रचण्ड पराक्रम इस पुरुष की विशेषता होगी । महापुरुष आर्तपरायण होता है । उसके अन्तर्गत व्यथित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति एवं उसके सुख-दुःख की विशेष अनुभूति पाई जाती है ।

वेद ने मानव के बाह्य एव आन्तरिक मूल्य का विश्लेषण करते हुए उसके विकास की पांच कोटिया निर्धारित की है। द्विज-पावमानी वरदायिनी वेदमाता की स्तुति करता हुआ ऋषि कहता है:—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।

विश्व में ऐसे मानवों की सख्या बहुत अधिक है, जो सुख-पूर्वक लम्बी आयु भोगना चाहते है। इन्हे निश्चिन्त रहते हुए जीवनयापन करना अच्छा लगता है। अपने को जोखम मे डालना, जानबूझ कर स्वेच्छा से दुःख को वरण करना, दूसरे के दुःख को दूर करने के लिये प्राणों पर खेल जाना—इन व्यक्तियों के वश के बाहर की बात है। ये लम्बी आयु के भूखे होते है। इन्हे अपने प्राणों की विशेष चिन्ता है। उदर-दरी को भर लेना और सांस लेते रहना—बस, यही इनके जीवन की विशेषता होती है।

दूसरी कोटि ऐसे मानवो की है, जिन्हे आयु और प्राणों की अपेक्षा पशु और द्रविण (धन) की विशेष चिन्ता होती है। पशु-पालन मे अपनी प्राण-रक्षा के साथ उस पशु के प्राणों की रक्षा भी आवश्यक होती है। पशु के पालन की भावना मानव के ऊपर एक प्रकार के उत्तरदायित्व का भार रख देती है, जिसका निर्वाह करना उसके लिये अनिवार्य होजाता है। धन कमाने में भी अनेक आपत्तियों और विघ्नो का सामना करना पड़ता है। व्यापारी वर्ग अपने घर मे सर्वदा सुख की नींद नही ले सकता। घरबार छोड़कर उसे विदेश-यात्रा करनी

पड़ती है। लोकोक्ति है:—घर छोड़ा तो आराम कहाँ? शारीरिक सुख इस वर्ग को धन के आधार पर मिल जाता है, पर निश्चिन्त जीवन कभी नहीं रह पाता। धन की चिन्ता इसे सर्वदा सताया करती है। प्रथम कोटि के मानवों की अपेक्षा इस कोटि के मानवों की संख्या कम होती है।

तीसरी कोटि के मानव वे है, जिन्हें न अपने प्राणों की चिन्ता है और न धन पैदा करने की। इस कोटि के मानव कीर्ति के पिपासु होते हैं। कीर्ति की कामना, यश-विस्तार की भावना इनके जीवन में प्रमुख होती है। यश-प्राप्ति के लिए ये मानव अपने प्राणों को हथेली पर रखे रहते हैं और धन को पानी की तरह बहा देते है। इन्हें कीर्ति और सम्मान चाहिए। यश के पीछे इन्हें अपना सर्वस्व भी खोना पड़े तो कोई चिन्ता की बात नहीं; संस्कृत के एक सूक्तिकार ने ऐसे ही प्राणियों के लिए कहा है:—

अधमा धनमिच्छन्ति, धनं मानं च मध्यमा।
उत्तमा मानमिच्छन्ति, मानोहि महतां धनम्।

अर्थात् अधम व्यक्ति धन की इच्छा करता है, मध्यकोटि का मानव धन और मान दोनों चाहता है। पर उत्तम मानव केवल मान की आकांक्षा करता है। इस सूक्तिकार ने वेद-निर्दिष्ट मानव-विकास की प्रथम कोटि पर विचार ही नहीं किया। द्वितीय कोटि को भी यह अधम श्रेणी में रखता है और सम्मान के भूखे तीसरी कोटि को यह उत्तम स्थान देता है। पर वेद मानवविकास को कीर्ति-कामना पर ही समाप्त नहीं कर देता। कीर्ति के पिपासु मानवों से भी बढकर वह ऐसे

मानवों की कल्पना करता है, जिन्हे न तो आयु की आकांक्षा है, न धन कमाने की चिन्ता है और न वे अपना यश ही चाहते हैं। इन्हे अपने जीवन मे केवल एक ही भूख लगती है—यह भूख है ज्ञान की। ज्ञान के पीछे यह मतवाले बन जाते है। एक समस्या का हल ढूंढ़ लेना इन्हे पुत्र-प्राप्ति से बढकर सुख देता है। इनके ज्ञान मे जितनी ही वृद्धि होती जाती है, उतना ही अधिक ये ज्ञान के पीछे पड़ते जाते है—यहाँ तक कि ज्ञान ही इनका चिर-जीवन साथी बन जाता है। आर्य सस्कृति ने ज्ञानी व्यक्ति को बहुत ऊंचा स्थान दिया है। मनुस्मृति में लिखा है कि ज्ञानी ब्राह्मण के सभा में पदार्पण करते ही राजा को सिंहासन छोड़कर खड़ा होजाना चाहिए। राजा एक वेदज्ञ ब्राह्मण की बात स्वीकार करे, पर सैकड़ों कामी व्यक्तियों की मत्रणा पर ध्यान न दे। रथारूढ राजा के मार्ग में यदि सामने से ब्रह्मचारी (ज्ञान में विचरण करने वाला) आजावे तो राजा अपने रथ को रोक दे और ब्रह्मचारी को निकल जाने के लिए मार्ग दे दे। इस प्रकार के अनेक कथन आर्यसस्कृति में ज्ञान की मान्यता का उल्लेख करते हैं। प्राचीन यूनान मे भी तत्वचिन्तकों को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त होचुका है। एक स्थान पर वेद ने ब्राह्म और क्षात्र दोनों शक्तियों के समन्वय पर भी बल दिया है।

पर वेद मानव-विकास को ज्ञान पर भी समाप्त नहीं करता; वह मानव को इसके भी ऊपर ले जाता है। वह मानव की निर्बलता को पकड़ता है और उस निर्बलता का समूल नाश करके उसे शुद्ध आत्म-तत्व पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। मानव की यह निर्बलता उसके

जन्म से ही आरभ हुई है। जन्म का अर्थ यहाँ आविर्भाव है। प्रकृति जब विकृति की ओर चलती है, तो उसका सर्वप्रथम विकार महत्तत्व होता है। इस महत्तत्व से अहकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही आत्मा की सबसे बड़ी निर्बलता है। मानव को जिस प्रकार धन का अहकार होता है, उसी प्रकार सम्मान का भी और धन तथा मान के अहंकार की भाँति ज्ञान का भी अहकार हो सकता है। जब तक यह अहंकार चिपटा है, तब तक मानव अपने आत्मतत्त्व से दूर रहता है—अपने स्वरूप में अवस्थित होना तो तभी सम्भव है, जब अहकार का नाश हो जाय। इसी हेतु वेद मानव द्वारा अर्जित इन सभी शक्तियों के समर्पण की भावना को ऊँचा स्थान देता है। अहकार मानव को क्षीणता, ह्रास और अल्पता की ओर ले जाता है। वेद उसे ब्रह्म अर्थात् महानता की ओर ले जाना चाहता है। जो महान् है, वह अल्पता से क्यों प्रेम करेगा ?

वेद ने इस प्रकार मानव विकास की पाँच कोटियाँ निर्धारित की हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने मानव विकास को एक दूसरे क्रम से समझाने का प्रयत्न किया है। इसने सर्व प्रथम मानव-आनद की व्याख्या की है। मानव-आनंद क्या है ? ऋषि के शब्दों मे मानव-आनंद के लिए निम्नाकित बातों की आवश्यकता है:—

सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधु युवा अध्यायकः आशिष्ठो दृढ़िष्ठो बलिष्ठः। तस्येय पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनदः।

अर्थात् मनुष्य-सम्बन्धी सुख प्राप्त करने के लिए पुरुष को युवा, श्रेष्ठ युवा, पठित, सुदृढ, अतिशय बलवान और सुसस्कृत होना चाहिए। इसके अतिरिक्त धन से पूर्ण यह समग्र वसुधा उसके अधिकार मे होनी चाहिए। इस प्रकार की विशेषताओ से युक्त मानव को आनद प्राप्त होता है। यदि इस आनद की संख्या हम एक मान ले, तो इसका सौगुना आनद सगीत-नृत्य-निपुण एक मनुष्य गधर्व को प्राप्त होता है, जिसने वाणी, स्वर अथवा शब्द की साधना की है तथा जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ) और अकामहत अर्थात् कामनाओं के वशीभूत नही है। मनुष्य गंधर्व द्वारा जो आनद प्राप्त किया जाता है, उसका सौगुना आनद वेदज्ञ, कामना-रहित एक देव-गंधर्व को प्राप्त होता है। मानव और देव का अंतर समझने के लिए हमे एक साधारण अध्यापक और प्रोफेसर का अतर ध्यान मे रखना चाहिए। मानव-गंधर्व भी कलाकार है और देव-गधर्व भी, परतु एक साधारण कला-नैपुण्य रखता है तो दूसरा उसका विशेषज्ञ है। देव का अर्थ ही है—चमकने वाला, अपनी प्रतिभा-प्रदीप्ति से चतुर्दिक् प्रकाशित होने वाला। आधुनिक युग में यदि मनहर बर्वे आदि मानव-गंधर्व है, तो उदयशकर को देव-गधर्व कहा जा सकता है। बलवान से बलवान, धनी-मानी सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति नृत्य कला का आनद लूटने के लिए अपने ऐश्वर्य को पानी की तरह बहा देता है। इसी हेतु मानव गधर्व तथा देव-गधर्व के आनद को मानव आनद से बढ कर माना गया है। पर एक विशेषता गधर्व के साथ लगी हुई है, फिर वह चाहे मानव कोटि का हो अथवा देव कोटि का। यह विशेषता है उसका श्रोत्रिय तथा अकामहत होना। यदि गंधर्व

श्रोत्रिय नही है, वेद–पाठ से वञ्चित है तथा कामनाओं के वशीभूत है, तो उसे यह गौरवशाली पद प्राप्त नही हो सकता। जिसने नृत्य कला अथवा सगीत को धन कमाने का साधन बना रखा है, जिसने लोभ के ऊपर विजय प्राप्त नही की, जो वासनाओं का शिकार बना हुआ है, वह केवल दर दर का भिखारी बना घूमेगा; उसकी कला का आदर सभ्रांत सज्जनों में नही हो सकेगा। सगीत कला को उसके समुचित आसन पर समासीन करने के लिए आवश्यक है कि वह वेदज्ञ तथा कामना रहित कलाकार के हाथ में हो।

तैत्तिरीय उपनिषद् का ऋषि स्वर-साधक, वाणी के अधिष्ठाता गंधर्वो से ऊपर पितरों को स्थान देता है। ये पितर भी वेदज्ञ तथा कामना-रहित हो। समाज मे पितर कौन है? सस्कृत मे पितृ—पालक तथा रक्षक को कहते है। अतः समाज मे जिन व्यक्तियो के ऊपर रक्षा का भार है, जो समाज की सुरक्षा एव व्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिये हुए है, जो प्रजा के परित्राण के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा सकते है, वही पितर है। समाज मे यह कार्य क्षत्रियों, योद्धाओं तथा शूरवीरों का है। परन्तु जब शूरवीरता अवैदिक भाव धारण कर लेती है, अपना उद्देश्य अपने अन्दर ही स्थापित कर लेती है तथा वह सकाम, धनोपार्जन का साधन अथवा भाड़े का टट्टू बन जाती है, तब वह भी अपने उचित आसन से पदच्युत हो जाती है। क्षात्र-शक्ति के सम्मान के लिए आवश्यक है कि वह वैदिक भावना, यज्ञिय अर्थात् कल्याणकारिणी भावना से ओत–प्रोत हो। कामनाये, वासनाये, लाल–साएँ उसका प्रयोग अपने स्वार्थ–साधन के लिए न कर सके। वह

सांसारिक ऐषणाओं से ऊपर उठी रहे। जनकल्याणी, मानव-हित-साधिका, प्रजा-पालन-परायणता की भावना ही उसका उद्देश्य तथा लक्ष्य बने। गधर्वों के आनद से सौगुना आनद ऐसे पितरों का एक आनंद कहा गया है।

उपनिषद् का ऋषि पितरों से भी बढ़कर देव-आनंद को मानता है। रक्षण शक्ति से भी ऊपर उसने देव-शक्ति को स्वीकार किया है। यह देव-शक्ति ब्रह्म शक्ति है। ऋषि ने देवों, ब्राह्मणों अथवा ज्ञानियों के तीन भेद किये हैः—

आजानज देव, कर्म देव, तथा देव। आजानज देव तत्त्वचिन्तन-शील ज्ञानी है, जो कोरी सिद्धान्तवादिता के क्षेत्र में रमण किया करते है, जिन्होंने केवल तात्त्विक सिद्धान्तों का ही अध्ययन किया है, उनका परीक्षात्मक प्रयोग नहीं किया। साहित्य-शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र अथवा विज्ञान के सिद्धान्तो को समझ लेना और उनको पढ़ा देना एक बात है, पर उनको क्रियात्मक रूप मे प्रदर्शित कर देना दूसरी बात है। कोरे सिद्धान्तवादियों को हम आजानज देव कहेगे, पर जो अनुसधान, परीक्षण तथा क्रियात्मक प्रयोग द्वारा उन सिद्धान्तों को स्पष्ट करने मे लगे हुए हैं, उन्हे हम कर्मदेव कहेगे। सापेक्ष सिद्धान्त (Theory Of Relativity) अथवा अणु-विश्लेपक सिद्धान्त को पढ़कर विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत करने वाला प्रोफेसर आजानज देव है, तो ओटोहैन अथवा सर सी० वी० रमन के समान अपनी प्रयोगशाला में

संचालित करने वाले हैं, उनके मार्ग-प्रदर्शक है, निरीक्षक हैं। इस प्रकार पितरों के आनन्द का सौगुना आनंद आजानज, सिद्धान्तवादी, ज्ञानी ब्राह्मणों अथवा देवो का एक आनद है और कोरे सिद्धान्तवादी देवों के आनद का सौगुना आनंद कर्मदेवो का एक आनंद है और कर्मदेवों के आनंद का भी सौगुना आनद शुद्ध देव कोटि मे पहुचे हुए ब्राह्मणों का एक आनद है।

ऋषि ने ज्ञानी ब्राह्मणों से भी ऊपर इन्द्र को पद प्रदान किया है। देवो के आनद का सौ गुना आनद इस इन्द्र का एक आनद है। इन्द्र का अर्थ राजा है। पितर क्षत्रिय हैं, देव ब्राह्मण है तो इन्द्र अपनी प्रजा के श्रेष्ठ भाग क्षत्रिय और ब्राह्मण का भी शासन करने वाला है, उनके कार्य तथा शक्तियों के विकास एव प्रदर्शन के लिए समुचित क्षेत्र तैयार करने वाला, विघ्न-बाधा रहित वातावरण को उपस्थित करने वाला और सब प्रकार से उनकी सहायता करने वाला है। इन्द्र को इसी कारण देवो का स्वामी कहा गया है। औटोहैन देव है, तो उसके अणुबम के सिद्ध प्रयोग को सिद्धि कोटि तक पहुचाने का श्रेय प्राप्त करने वाला अमेरिका का अधिपति इन्द्र है। ऋषि ने आगे चल कर इन्द्र के आनद का सौगुना आनद बृहस्पति के एक आनद को माना है। समाज मे यह बृहस्पति कौन हो सकता है? पौराणिक अनुश्रुति मे बृहस्पति इन्द्र के गुरु कहे गये है। अतः बृहस्पति का स्थान समाज मे वही व्यक्ति ले सकता है, जिसकी मन्त्रणा प्राप्त करने के लिए राजा भी लालायित हों। दण्डी संन्यासी का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए अनेक देशों का विजयी अलक्षेन्द्र सिन्धु तट पर बनी उसकी एक साधा-

रण कुटिया तक पैदल चल कर गया था। गांधी की मत्रणा प्राप्त करने के लिए वीर जवाहरलाल लालायित बने रहते थे। गुरु वशिष्ठ तथा महर्षि व्यास इसी कोटि के व्यक्ति थे। हाँ, एक बात रह गई। जिस प्रकार वेदज्ञ तथा अकामहत (कामनारहित) होना कलाकारों अथवा पितरों (क्षत्रियों) के लिए आवश्यक था, उसी प्रकार वह ब्राह्मण, राजा तथा बृहस्पति के लिए भी आवश्यक है। आर्य संस्कृति की यह मूल बात मानव-विकास की आधार शिला है। पाश्चात्य संस्कृति वेदज्ञता अथवा ज्ञान-प्राप्ति पर तो बल देती है, पर कामनाओं को वशीभूत करने की अपेक्षा वह उनकी लगाम ढीली छोड़ देना चाहती है। इच्छायें जितनी बढ सकें, उन्हे बढने दो, उन्हे रोकने से, नियन्त्रण करने से मानव अपना विकास नही कर सकेगा, यह ऐसी बात है जो आर्य-सस्कृति के मूलाधार से एकदम विपरीत है। अकामहत होकर ही वशिष्ठ, बृहस्पति, व्यास तथा गाधी राजगुरु का पद प्राप्त कर सके हैं। यदि ये सकाम होते, तो राजा अन्य ज्ञानी ब्राह्मणों की भाँति इनको भी वेतनभोगी बनाकर अपने शासन मे रख सकता था। ऐसे गुरुओं का पद पाश्चात्य सस्कृति मे कदाचित् ही कही प्राप्त हो। वेतनभोगी, शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत रहने वाला ब्राह्मण भी कामना-रहित होता है, पर सांसारिकता कुछ न कुछ उसके साथ अनायास लग ही जाती है।

ऋषि ने आगे चलकर मानव विकास की दो कोटियाँ और वर्णित की है। ये कोटियाँ प्रजापति और ब्रह्म की है। प्रजापति वीतराग, विदेह, राजर्षि, चक्रवर्ती सम्राट की सज्ञा है और ब्रह्म परमेश्वर में लीन मुक्तात्माओ का नाम है। बृहस्पति निस्पृह, उच्चकोटि का ज्ञानी महात्मा है, पर

उसका कुछ न कुछ सम्बन्ध सासारिकता के साथ है ही। राजाओं का गुरु होना स्वतः सांसारिकता से सम्बन्ध स्थापित कर देता है। महात्मा गाधी भी इसका अपवाद नही थे। वे काग्रेस से पृथक थे, पर काग्रेस की चिन्ता, उसके ध्येय की पूर्ति उनके मस्तिष्क मे विद्यमान रहती ही थी। इस प्रकार के राजगुरुओं की अपेक्षा राजर्षि विदेह प्रजापति का आसन निस्सन्देह ऊँचा है। यह प्रजापति का पद लीग आफ नेशन्स के अधिपति के समान है, पर उस अधिपति को वेदज्ञ और अकामहत होना चाहिए। राजर्षि जनक के समान इस अधिपति को पद्मपत्रमिवाम्भसा बनना चाहिए। विदेहराज के पास बड़े से बड़े ज्ञानी भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाते थे। प्रजापति वेदज्ञ और कामना-रहित होकर एक ओर अपनी प्रजा का अनुरञ्जन और पालन करता है तो दूसरी ओर वह अध्यात्म-विद्या का निधि है, आत्म-ज्ञानी है। प्रजापति से ऊँचा पद वेदज्ञ, कामना-रहित ब्रह्मलीन मुक्तात्मा का है। मानव विकास की यही सीमा है, इससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं। आत्मा आनन्द से ही आविर्भूत हुआ था। सासारिकता में पड़कर वह इस आनन्द से वञ्चित होता गया, पर पुनः वेदज्ञ तथा कामना-रहित होकर उसने अपना विकास किया। ज्ञान और अनासक्ति ने उसे मानव, गन्धर्व, पितर, देव, इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापति की कोटियों मे क्रमशः ले जाकर उसकी सांसारिकता का नाश कर दिया और अन्त मे विकास की सर्वोच्च कोटि ब्रह्मलीनता, परमानन्दमयता तक उसे पहुचा दिया। आत्मा जहाँ से चला था, विकसित होकर पुनः वहीं जा मिला।

वेद के मन्त्र की सङ्गति उपनिषद् के ऋषि के अनुभव के साथ भली-

भाँति बैठ जाती है। मन्त्र में मानव विकास की पाँच कोटियाँ वर्णित हुई हैं:—शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण और सर्वस्व समर्पण करने वाला ब्रह्मलीन आत्मा। शूद्र निश्चिन्त होकर जीवन-यापन करना चाहता है। उसे ज्ञानी, शक्तिशाली अथवा धनी होने की चिन्ता नहीं होती। चिन्ता केवल एक बात की है कि वह अपने पुत्र-पौत्रों के साथ बहुत दिनों तक जीवित बना रहे। वैश्य को धनोपार्जन की चिन्ता रहती है। उपनिषद् के मानव-आनन्द से ये दोनों कोटियाँ कुछ हीन ही ठहरती है। पर वैश्य कोटि ऐसी हो सकती है, जिसमे मानव-आनन्द का अनुभव हो सके। वैश्य से उच्च कोटि कलाकारों की है। ये कलाकार वैश्य और क्षत्रिय (पितर) के मध्य में पड़ते है। पर इनके भी दो विभाग हैं—मानव और देव। मानव-कलाकार (गन्धर्व) वैश्य से ऊपर की विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। इसके विपरीत देव-गन्धर्व, देवगायक, ज्ञानी अथवा ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय कोटि से कुछ निम्न स्तर पर विराजमान हैं। इनके पश्चात् पितरों की, क्षत्रियों की विकसित अवस्था आती है। क्षत्रियों से ऊपर भाव-प्रधान क्रान्तदृष्टा कवि, विप्र अथवा ब्राह्मणों का पद है। मन्त्र ने इस कोटि के पश्चात् ही ब्रह्मलीन आत्माओं की अन्तिम कोटि वर्णित कर दी है, पर उपनिषद् के ऋषि ने इन दोनों के बीच इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापति की तीन कोटियाँ और मानी है। संक्षिप्त वर्णन के लिए, सूत्र रूप में विकास का क्रम प्रदर्शित करने के लिए, वेदमन्त्र अतीव उपयुक्त है, परन्तु विस्तृत वर्णन के लिए, विकास-क्रम को और भी अधिक सुचारु रूप से प्रकट करने के लिए, उपनिषद् के ऋषि का अनुभव लाभकारी है।

डार्विन का विकासवाद जहाँ समाप्त होता है, वहाँ से वैदिक विकास-वाद का प्रारम्भ होता है, इसके समझने मे पाठकों को अधिक कठिनाई का अनुभव नही होगा। डार्विन के विकासवाद को विकास का नाम देना कदाचित् भ्रमात्मक भी है; पर ऊपर जिस वैदिक विकासवाद की स्थापना की गई है, वह मानव-बुद्धि-गम्य और ऋषियों का अनुभूत ज्ञान है। डार्विन के विकासवाद को स्वीकार करने मे बुद्धि ने बहुत आगा-पीछा किया है। डार्विन के विरुद्धी कई विद्वानो ने उसके सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं, पर वैदिक ऋषियों द्वारा वर्णित विकासवाद तर्क, युक्ति और अनुभव की कसौटी पर कसा जाने पर खरा एवं सत्य सिद्ध होरहा है। वैदिक विकासवाद की सिद्धान्तधारा त्रिकालाबाधित है। वह देश और समय दोनों की परिधियों से अपरिच्छिन्न है।

वैदिक विकासवाद के अनुसार महापुरुष वही है जिसने अपना सर्वोच्च कोटि का विकास किया है। गीता मे योगिराज कृष्ण ने जब कहा थाः—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदेच, प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १५-१८ ॥

तो उनके इस कथन मे पुरुषोत्तम शब्द उनके उच्चकोटि के विकास का ही सूचक था।

मानव का विकास और सदाचार

एम्येनुएल काण्ट ने एक बार कहा था कि मै दो वस्तुएं ससार में देखता हू, एक तारों भरा आकाश ऊपर और दूसरा सदाचार का नियम अपने अन्दर। तारो भरे आकाश से उसका तात्पर्य प्राकृतिक नियमो (Natural Laws) से था, जो शुद्ध रूप से भौतिक जगत का शासन करते है। सदाचार के नियमों (Moral Laws) का सम्बन्ध चेतन मानव जगत के साथ है। अघमर्षण मन्त्रों मे सर्व प्रथम ऋत और सत्य दो तत्वों का उल्लेख हुआ है, जो प्रभु के अभीद्ध तप से उत्पन्न होते है। आचार्यों ने ऋत का अर्थ वेद-विद्या और सत्य का अर्थ प्रकृति किया है। मेरी समझ मे इन दोनो शब्दों का अर्थ आचार्यों के अर्थ के ही अनुकूल चेतन तथा प्राकृतिक जगत के नियमों से है। ऋत शब्द ऋ गतौ धातु से निष्पन्न होता है। अतः ऋत् शब्द का अर्थ हुआ गति। गतिशीलता का अर्थ ज्ञानमयता करना सस्कृत के विद्यार्थियों के लिए कठिन नही है। ज्ञान का सम्बन्ध चेतन जगत के सर्वाधिक विकसित मानव के साथ ही है। इस प्रकार वे नियम, जो मानव-जगत का शासन करते है, वेद की परिभाषा मे ऋत् कहलाते हैं। प्रकृति सत्‌रूपा है। अतः सत्य से तात्पर्य प्राकृतिक नियमों का ही है। प्राकृतिक नियमों के कारण यह भौतिक जगत आगे बढता हुआ भी स्थिर है, सत् है, सत्तावाला है। प्रकृति से बने हुए सभी लोक-लोकान्तर सत्ता वाले है, अपना विशेष अस्तित्व रखते है। पर केवल

सत्ता या अस्तित्व ही सब कुछ नही है। सत्ता से ऊपर वेदना, भावना एव ज्ञान के तत्व है। वेदना-शील, भावना-प्रवण तथा ज्ञानी मानव एक सत्ता से दूसरी सत्ता उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है, तथा सत्ता को विनाश अथवा स्थिरता की ओर प्रेरित भी कर सकता है। विनाश का तात्पर्य रूप-परिवर्तन है। चेतन मानव को इसी हेतु जड़ अस्तित्व वाली प्रकृति के ऊपर महत्व प्राप्त हुआ है।

जड़ अथवा अचेतन तथा मानव के बीच मे अर्द्ध-चेतन जगत की कई श्रेणियाँ है। इन श्रेणियो मे स्वाभाविक ज्ञान पाया जाता है, पर चेतन मानव अपने विशेष ज्ञान के द्वारा इन श्रेणियों पर भी शासन करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विचार करने से मानव सब जगत का मूर्धन्य सिद्ध होजाता है, और वह है भी वास्तव मे प्रभु की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि। स्काटलैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक विलियम हेमिल्टन का कथन है:—"On earth, there is nothing so great as man In man, there is nothing so great as mind" विश्व मे मानव से बढकर अन्य कोई प्राणी नही है और मानव मे बुद्धि से बढकर अन्य कोई शक्ति नही है।

मानव सृष्टि स्वतः कई श्रेणियो मे विभाजित है। अग्नि-पुराणकार ने मानव, विद्वान मानव, कवि मानव तथा शक्तिशाली कवि मानव इस प्रकार की चार मानव-श्रेणियाँ स्थापित की है। यह विभाजन विशेषतः भावना-जगत से सम्बन्ध रखता है। सन्त-सम्प्रदाय मे विषयी, साधक और सिद्ध तीन श्रेणियाँ मानी गई है। समाज की बाह्य शक्तियों के विकास को ध्यान मे रखकर चातुर्वर्ण्य संस्था का जन्म हुआ है,

जिसके अनुसार शूद्र (शरीर सम्पत्ति, कष्ट सहिष्णुता, तप) वैश्य (मन-सम्पत्ति), क्षत्रिय (प्राण और हृदय-सम्पत्ति) तथा ब्राह्मण (मनः सम्पत्ति) के रूप मे मानव-विकास की चार कोटियाँ है। व्यक्ति की अन्तःशक्तियो के विकास के आधार पर मानव के ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और सन्यासी चार भेद होजाते है।

मानव का विकास मुख्य रूप से तीन क्षेत्रो मे होता है। ये तीन क्षेत्र है—ज्ञान, कर्म और उपासना। विकास एक क्षेत्र मे भी होता है और समन्वित रूप मे भी। आर्य-सस्कृति ने एक क्षेत्रीय विकास को श्रेयस्कर नही समझा है। सभी क्षेत्रों के समन्वित विकास को उसने प्रधानता दी है। जहाँ व्यक्ति को अपनी अन्तःशक्तियों का विकास करना है, वहाँ उसे सामाजिक बाह्य शक्तियों के विकास को विस्मृत नही कर देना है। अन्तः शक्तियो का विकास भी तो बाहर समाज मे ही प्रदर्शित हो सकेगा। इसी प्रकार यदि मानव ज्ञान के क्षेत्र मे उन्नति करता है, तो उसे अपने ज्ञान का परिणाम कर्म के क्षेत्र में प्रदर्शित करना होगा, ज्ञान के अनुकूल कर्म भी करना होगा। विकास का यह समन्वित रूप ही मानवता के लिए कल्याणकारी है।

मानव की समस्त सम्पत्ति—मन, बुद्धि, चित्त, अहकार (अन्तःकरण चतुष्टय), पंच ज्ञानेन्द्रिय, पच कर्मेन्द्रिय—विकसित अथवा सस्कृत होनी चाहिए। तभी हम मानव को सस्कृत या विकसित मानव कह सकेंगे। यदि मानव का विकास शरीर-सम्पत्ति तक ही सीमित रह गया, तो उसमे और अर्द्धचेतन तथा भौतिक जगत मे अन्तर ही क्या रहा? वेद मे ससार को अन्न से उपमित किया गया है। मानव के पास जो स्थूल शरीर है,

उसे भी अन्नमय कोष कहा जाता है। यदि दूध, घी, मेवा, मांस, प्रभृति का सेवन करके आप इस अन्नमय कोष का ही संवर्धन करते है, तो आप अपने को अन्न ही बना रहे है, मानव नही। व्यक्तियों के साथ अनेक जातियाँ भी इसी कोटि मे आती है, जो विशेष भूमि-भाग को आत्मसात कर अपना अन्नमय विस्तार कर रही है। मानव का वास्तविक विकास प्राणशक्ति तथा कर्मेन्द्रियों के विकास से प्रारम्भ होता है। शिथिल, प्रमादयुक्त, दीर्घसूत्री एव आलसी का क्रियाकलाप अनुन्नत एव अविकसित होता है। सबल प्राण-शक्ति ही उसे उन्नति-पथगामी बनाती है। पर प्राणशक्ति की सबलता भी विकास की अन्तिम नहीं, केवल प्रारम्भिक सीढ़ी है। सन्ध्या मे हम प्रति दिन अगन्यास करते हुए कहते है—"बाहुभ्या यशोबलम्" हे प्रभो! मेरे बाहु आदि सभी अङ्ग बलवान और यश के कारण बने। अतः कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को सबल होना ही चाहिए, पर इस सबलता का प्रयोग यश के लिए होगा। बल के ऊपर यश का अङ्कुश रखना होगा। बल का प्रयोग अत्याचार के लिए नही, किन्तु यश-विस्तार के लिए होना चाहिए। यहाँ प्रश्न होसकता है कि अत्याचारी, बर्बर आततायी भी तो अपने बल-प्रदर्शन के द्वारा यश का अर्जन करता है, तो क्या उसका पौरुष अवाञ्छनीय है? उत्तर स्पष्ट है कि इस प्रकार का पौरुष-प्रदर्शन उसके यश का विस्तार नही करता, अपितु उसके यश को मार डालता है। अत्याचारी, अबलाओं और शिशुओं को त्रस्त एव विपन्न बनाने-वाला, निर्बलों को बलपूर्वक सम्प्रदाय विशेष मे सम्मिलित करनेवाला नीच प्राणी मानव समाज में निन्दा, अपकीर्ति एव अपमान का ही भाजन बनता है। सब उसके नाम पर

और मुंह पर थूकते है। सभ्य समाज द्वारा बहिष्कृत ऐसे प्राणी और प्राणियों के वर्ग विश्व मे कलह, अशान्ति एव पीड़ा उत्पन्न करने क लिए उत्पन्न होते है; और प्रायः अपनी मौत आप मर जाते है। मानवता अपने अचल में उन्हे स्थान नही देती। अतः सबलता यश की ओर उन्मुख होनी चाहिए। पर यश के भी दो पार्श्व हैं, निष्काम और सकाम। सकाम यश मानव के परिपूर्ण विकास में बाधक है। अत' इसके ऊपर भी अकुश की आवश्यकता है। यह अकुश पवित्रता का है। सन्ध्या मे अङ्गन्यास के पश्चात् अङ्गमार्जन करते हुए हम बोलते है—"भूः पुनातु शिरसि"—हे प्रभो, मेरे बलवान एव यशस्वी शिर-नेत्र आदि पवित्र हों।" इस प्रकार बल, यश तथा पवित्रता के सोपानों पर चढते हुए हम कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियो को विकसित और सस्कृत करते जाते हैं। इनके साथ अन्तःकरण चतुष्टय भी विकसित एव सस्कृत होता जाता है। स्वाध्याय, तप तथा ईश्वर प्रणिधान द्वारा मन-बुद्धि आदि की सस्कृति और पवित्रता मानव को ऊँचा उठा ले जाती है। इन सभी उत्पादनों से मानव के सदाचार की प्रतिष्ठा होती है। वह सत्, शुभ, पवित्र, कल्याणकारी आचरण वाला बन जाता है। यह आचार ही परम धर्म है। मानव का सदाचार ही विकास और उसका विकास ही सदाचार है। जिसको यह चरित्रधन, यह आचार-सम्पत्ति, यह पवित्रता प्राप्त नही हुई, वह अपावन मानव अन्न है। हमें अन्न नही, अन्नाद बनना चाहिए। अन्न हमारा स्वामी या शासक न हो, हमें अन्न का स्वामी और शासक बनना चाहिए। मानव की यही मानवता है, यही उसका विकास, यही उसकी प्राप्य ज्येष्ठ और श्रेष्ठ सम्पत्ति है।

आगे या पीछे ?

विधाता ने सभी प्राणियों को आँखें दी है और वे शरीर के अग्रिम भाग मे है, पीछे नही। इसी कारण सभी प्राणी अपने सामने या आगे देखने की सामर्थ्य रखते है। अकेला मानव ही ऐसा प्राणी है जो पीछे, दायें, बायें सभी ओर देखता है, शारीरिक दृष्टि से भी और मानसिक दृष्टि से भी। मानव मे मानसिक दृष्टि का ही अधिक महत्व है। पशु मे मानसिक शक्ति का एकान्त अभाव तो नही, पर वह अविकसित, अनुन्नत और तिरोहित रूप मे ही उसके अन्दर रहती है—भूख, प्यास, सुख-दुःख आदि की अनुभूतियाँ उसे भी होती है, पर जो ज्ञान का विकास, चेतनता का विस्तार मानव मे दिखलाई देता है, वह पशु, पक्षी आदि अन्य प्राणियों में दिखलाई नही देता। इसी कारण जो पीछे नहीं देखता या देखने की सामर्थ्य नही रखता, वह मानव नही, मानव रूप मे पशु है।

मानव आगे भी देखता है और पीछे भी। कभी कभी तो आगे देखने के लिए पीछे देखना अनिवार्य होजाता है। जो पीछे नही देखता, वह आगे के मार्ग को भी स्पष्ट रूप से नही देख सकता। प्रत्येक संस्कृत व्यक्ति और विकसित समाज अपने अतीत से प्रेरणा प्राप्त करता है और जो त्रुटियाँ पीछे हो चुकी है, उन्हे दृष्टि मे रखकर भावी जीवन का कार्यक्रम निश्चित करता है। उन्नति का यही सुगम एवं सफल मार्ग है। परन्तु जो प्राणी उन्नत होकर अपनी उसी उन्नत अवस्था मे संतुष्ट हो जाता है, अथवा अपनी पिछली त्रुटियो और न्यूनताओं पर विचार

नहीं करता, अपनी निर्बलता को जानकर भी उससे चिपटा रहता है, सबल बनने के लिये अपने अन्दर से उन्हे निष्कासित नही करता, ऐसा प्राणी न तो अपने विगत जीवन से प्रेरणा ही पाता है और न भविष्य के लिये कोई मगल निर्देश। पीछे न देखने का परिणाम यह होता है कि ऐसा व्यक्ति किसी स्पष्ट निर्देश के अभाव मे, भावी जीवन-पथ पर चलता हुआ, पग पग पर ठोकरे खाता है और औधे मुह गिरता है। इसी कारण उन्नति की सरणी में मानव जैसे चेतन, ज्ञान-सम्पन्न प्राणी को पीछे देखना आवश्यक होजाता है। आगे चलना है तो पीछे देखना ही पड़ेगा। भविष्य के लिये अतीतकाल मार्ग-प्रदर्शक का कार्य करता है। कोई भी सभ्यजाति अपने अतीत को विस्मृति के गर्भ में डाल कर आगे नही बढती। सबको अपने अतीतकाल पर अभिमान होता है और यदि यह अतीत उन्नतिपथगामी विचारधाराओं से ओतप्रोत हो, आत्मा को विकसित, सस्कृत, आलोकित एव आह्लादित करने वाले क्रिया-कलाप से मडित हो, अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों क्षेत्रों मे भूरि भूरि मगल-विधायक आदर्शों का सृष्टा हो; तब तो उस समाज के लिये इस परमोज्ज्वल अतीत को बार बार सामने लाना अत्यन्त आवश्यक होजाता है। इसी के आलोक मे वह समाज लोक-पथ पर अग्रसर होता है, उसका सदाचार मार्ग निर्मित होता है, उसकी नैतिक भौतिक, आत्मिक सभी पद्धतियाँ स्पष्ट एवं विशद बनती है और पुण्य-पथ प्रशस्त होता है। जैसे नाव का खेनेवाला पीछे देखता है और डाँड़

प्रगतिशील बन कर आगे बढ जाते है । पशु यह नहीं कर सकता, उसमें यह शक्ति ही नही है । पशुओं मे शूकर तो शरीर से भी न मुड़ने के लिए प्रख्याति प्राप्त कर चुका है । यदि कोई मानव या देश भी पशु के अनुकरण पर अपने अतीत से लाभ उठाना नहीं चाहता, पीछे दृष्टिपात करना उसे अनुचित और निरर्थक प्रतीत होता है, तो वह भले ही अपने को पशु कोटि में डाले रहे । उसकी चेतना अन्दर बैठी हुई उसे अवश्य धिक्कारेगी । गीता के शब्दों में ऐसा प्राणी या जाति, ऐसा समाज या देश आसुरी कोटि मे आता है, जो किसी की कुछ भी बात सुनने को उद्यत नही; अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा को धता बता कर, अपने तथा-कथित सिद्धान्तों से हठ-पूर्वक चिपटा हुआ, जो अपने व्यक्तित्व को ही सब कुछ मानता है, अपने स्वार्थ के अतिरिक्त जिसे स्वप्न मे भी परार्थ नही सूझता, जो अहम्मन्य, दुराग्रही, अपने को ही सिद्ध, बलवान और ईश्वर समझता है और अपनी वैयक्तिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अन्य सबका उपयोग करना चाहता है, ऐसे प्राणियों या देशों को प्रकृति-माता या मानवता अपने अंचल मे कभी स्थान नही देती । प्रभु की शाश्वत नियम-शृङ्खला के पाश उन्हे जकड़ लेते है और अपनी विकराल दंष्ट्राओं द्वारा चबा जाते है ।

पीछे देखना मानव को ही आता है। पीछे आँखें न होने पर भी वह पीछे देखने की शक्ति रखता है । उपनिषद् का ऋषि कहता है कि पुत्र पिता का स्थानीय है, उसका प्रतिनिधि है, उसीका दूसरा रूप है । पुत्र अपने पिता के छोड़े हुए कार्य को पूरा करता है । पिता जिस कार्य को जहाँ से छोड़कर गया है, पुत्र उस कार्य को वहाँ से आगे बढाता है ।

यदि पुत्र को अपने पिता के छोड़े हुए कार्य का ही ज्ञान न हो, तो वह उसे आगे कैसे बढा सकेगा ? और यदि कही कुपुत्र निकला, तो अपने पिता के किये कराये कार्य पर भी पानी फेर देगा । सुपुत्र वह है, जो पीछे देखता है, अपने पूर्वजों की कमाई को सुरक्षित रखता है और अपने पुरुषार्थ द्वारा उसमे कुछ न कुछ वृद्धि कर जाता है । पीछे देखकर वह क्षेम की प्रतिष्ठा करता है और अपने पौरुष द्वारा प्रगतिशील बन कर, आगे देखकर, वह योग की सिद्धि करता है । जिसका योग-क्षेम बन गया, वह वास्तव मे धन्य है । पर उन प्राणियों को क्या कहा जाय, जो पीछे देखने को बुरा समझते हैं, अपने पूर्वजों की थाती को विनष्ट करने पर तुले है, जिन्हे अपनों से नही, परायों से प्रेम है और जो आगे बढने की दुराशा में अपनी सुदृढ एव निश्चित आधार भूमि को भी छोड़ देना चाहते हैं । मुझसे कोई पूछे, तो मै कहूँगा, भाई, आगे देखने मे पीछे देखना भूल मत जाओ । आगे भी देखो और पीछे भी । मानवता इसी मे है ।

छान्दस और कवि

वैदिक काल मे कवि, ऋषि, विपश्चित, विप्र, सूरि आदि कतिपय शब्द लगभग समानार्थक थे। इनका अर्थ विद्वान, द्रष्टा, विशेषज्ञ और ज्ञानी होता था। वैदिक कवि ही ऋषि थे। वैदिक मन्त्रों को शब्दों में उतारने वाले और उनका अर्थ समझने तथा समझाने वाले कवि ही ऋषि कहलाते थे। यास्क ने ऋषि का अर्थ मन्त्रद्रष्टा लिखा है। जिन तीन ऋषियों से वेदत्रयी का आविर्भाव माना जाता है, वे अग्नि, वायु और सूर्य के नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद निकला या प्रकट हुआ। ÷ अथर्ववेद ऊपर लिखी वेदत्रयी का समन्वित रूप है। इसे आंगिरस वेद भी कहा जाता है। अथर्ववेद इस प्रकार अंगिरा ऋषि से उत्पन्न हुआ।

मनु ने अग्नि और वायु दो नामों मे कोई परिवर्तन नहीं किया, परन्तु सूर्य के स्थान पर उन्होंने रविनाम रखा है।❀ कहीं कहीं सूर्य को आदित्य भी लिखा हुआ है। सूर्य, रवि और आदित्य तीनों नामों की निरुक्ति पृथक पृथक है, यद्यपि लौकिक संस्कृत में तीनों शब्द पर्यायवाची है। अथर्ववेद का ऋषि कहीं अथर्वांगिरस,

---

÷अग्ने ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः। शतपथ ११-४-२-३

❀अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् ऋग्यजुः सामलक्षणम् ॥मनु० १-२३॥

कही आगिरस और कही ब्रह्मा लिखा गया है। अथर्व का मूल अर्थ है, अ=नही, थर्व=विचलित होना, अर्थात् जो विचलित नही होता, निष्कप, एकरस और अविचल बना रहता है, वह अथर्वा है। ब्रह्मा का अर्थ है—बड़ा ; महान्। जो जितना ही अधिक महान् है, वह उतना ही अधिक अविचल है। अतः अथर्व का एक अर्थ हुआ ब्रह्मा। अथर्व वेद इसी आधार पर ब्रह्मवेद भी कहलाता है। मनु के शब्दों मे ब्रह्मा ने अग्नि, वायु और रवि से ऋक-यजु-साम लक्षण वाली सनातन वेदत्रयी को यज्ञ की सिद्धि के लिये दुहा अर्थात् प्राप्त किया। अतः ब्रह्मा को प्रथम वेद प्रचारक कहा जाता है।

वेद-मन्त्रों के ऊपर इस समय कुछ ऋषियों के नाम भी लिखे रहते है। इन ऋषियों ने इन मन्त्रों अथवा सम्पूर्ण सूक्तों का विशेष रूप से प्रवचन तथा प्रचार किया था। ये नाम सृष्टि के प्रारम्भिक काल के प्रतीत नहीं होते। फिर भी जिस युग मे ये ऋषि हुए, उस समय तक कवि और ऋषि एक ही थे, उनमे अन्तर नही आया था—विरोध उत्पन्न होने की तो शका ही नही की जा सकती। वेद के अधिकाश मन्त्र काव्यबद्ध है, छान्दस है, कविता के रूप मे है। उसका थोड़ा सा भाग गद्यात्मक है। उस समय तक वैदिक कवि था और कवि वैदिक था। काव्यबद्ध रचना के रूप मे ऋषि प्रगट होता था और ऋषि के दर्शन रूप मे कवि का रूप दिखाई देता था। चिन्तन, दर्शन, साक्षात्कार कवि की विशेषता थी और सम्यक शब्द, सम्यक पद-योजना, उपयुक्त वाणी ऋषि की विशेषताये थी। 'अन्तर मे वाह्य और वाह्य मे अन्तर' 'विचार मे वाणी और वाणी में विचार' ऐसा

ओत-प्रोत था कि एक को दूसरे से पृथक करना अनावश्यक, अनुचित एव असम्भव था। ऋषि में कवि और कवि में ऋषि घुला-मिला था। वैदिक छान्दस कहलाता था और छान्दस वैदिक। लौकिकता और पारलौकिकता का यह सुन्दर सगम था।

काल बड़ा बलवान है। उसने इन दोनों को एक न रहने दिया। यास्क के समय मे वैदिक शब्दों को समझने वाले ऋषि नहीं रहे थे और ऋषियो के साक्षात्कार को प्रगट करने वाले शब्द विस्मृत हो चुके थे। अन्तर एव बाह्य मे पार्थक्य आ चुका था। लौकिक काव्यों की रचना होने लगी थी। जनता का मन उनमे रमने लगा था। वैदिक मत्र शोभा की सामग्री अवश्य थे, पर जनता से दूर थे और इसी हेतु अस्पष्ट एव अज्ञात। कालान्तर में उनकी यही अस्पष्टता उपहास और कटाक्षों का भी कारण बन बैठी। जनता तो उसी वस्तु को चाहती है, जो उसके काम की हो। जो उससे दूर है, उसमे उसकी रुचि नही रहती। अतः वैदिकों की अपेक्षा कवि जनता के अधिक मेल मे आ गये। उनका सम्मान बढ़ गया। धन और ऐश्वर्य उनके साथी हो गये। वैदिकों का तिरस्कार प्रारभ हो गया। यह था वैदिकों और कवियों की भिड़न्त का प्रारम्भ !

वैदिक निःशेष तो हो नहीं गये थे। अपना पराभव अनुभव करके उन्होंने जनता की ही रुचि पर अपनी छाप लगाना प्रारम्भ किया। जनता वेद से दूर हो गई थी, उनकी अस्पष्टता अतएव अनावश्यकता के कारण। वैदिको ने कहा—"वेद तुम्हारे लिये हैं ही नही, वे तो ऋषियों की वस्तु हैं, त्यागी और तपस्वी ब्राह्मणों के लिये है। जो लौकिकता मे,

बाह्य विलास मे, शरीर-तृप्ति मे, प्राण-पोषण में, धन-कीर्ति की कामना में निरत है, वे वैदिक नहीं है, वेद उनके लिए नही हैं।" छान्दस शब्द अपने प्राचीन अर्थ मे वैदिक के लिये ही प्रयुक्त होता रहा। पाणिनि और उसके परवर्ती काल तक यही दशा रही। अतः वैदिक और छान्दस एक रहे और लौकिक कवि इनसे पृथक।

वैदिक और कवि का यह अन्तर बढ़ता ही गया। वैदिक अपने आपको सत्य का शोधक, समर्थक और द्रष्टा समझते थे, दूसरे शब्दों में परोक्ष, परलोक और अध्यात्म का धनी अनुभव करते थे, अतः कवियों को उन्होंने लौकिक, मिथ्या कल्पनावादी, झूठा और अविश्वसनीय कहा। प्लेटो कवियों से इतना चिढा हुआ था कि उसने अपनी रिपब्लिक मे उन्हे कोई स्थान ही नही दिया, बाद मे उसने अवश्य कवियों के साथ थोड़ा-सा सामंजस्य किया। भारत में भी कुछ ऐसी ही अवस्था रही। स्त्री और शूद्र तो वेदों से पृथक कर ही दिये गये थे, या हो ही गये थे, जैसा पूर्व लिखा जा चुका है; अन्य साधारण जन भी उनसे दूर ही थे। अतः इन सबके लिये कविता रह गई। रामायण और महाभारत रह गये। थोड़े ज्ञान-धनी ब्राह्मणों को छोड़कर ब्राह्मणों का अधिकाश भाग भी वेद से दूर हो गया और कविता को अपनी जीविका का साधन बना बैठा। लोक रुचि ही इस ओर थी। अतः वह भी इस ओर झुक गया। वैदिक वर्ग पौरोहित्य कार्य तक सीमित रह गया और लौकिक ब्राह्मणों ने इस वर्ग को हीन दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया। पुरोहितों के साथ विवाह आदि सम्बन्ध करना वर्जित सा हो गया।

लौकिक ब्राह्मणों ने कविता को अपनाकर उसकी बाह्य वेश-भूषा

सँवारने में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया। अलकार, रस, ध्वनि, रीति, शब्द शक्ति, गुण तथा दोषों का सम्यक विवेचन और विश्लेषण अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। मध्यकालीन ब्राह्मण की विशेषता वेद के परिज्ञान पर नहीं, कविता सम्बन्धी इन्हीं शक्तियों के सुबोध पर आश्रित थी। वेद की उपेक्षा और कविता की अपेक्षा किसी ने निम्नाकित श्लोक मे इसी आधार पर घोषित की है:—

नैव व्याकरणज्ञमेव पितरं न भ्रातर तार्किकम्।
मीमासा–निपुण नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा॥
दूरात्सकुचितेव गच्छति पुनश्चाण्डालवच्छान्दसम्।
काव्यालकरणज्ञमेव कविता कान्ता वृणीते स्वयम्॥

छान्दस अर्थात् वैदिकों से कवियों का ऐसा भागना जैसे कोई चाण्डाल की छाया से भागता हो, मीमासकों को नपुसक समझना, वैयाकरण और नैयायिक अथवा तार्किक को पिता और भाई के समान समझकर भी दूर रखना और केवल अलकारज्ञ को ही वरण करना-ऐसी बातें है, जो कवियों के मुख से तभी निकली होंगी, जब वैदिकों ने उन्हे चिढ़ाया होगा या किसी कारण-वश दोनो मे विरोध की भावना प्रबल हुई होगी।

ब्राह्मणों के ये दो भेद वैदिक और कवि दाक्षिणात्यों के भट्ट शब्द मे निहित हैं। भट्ट का अर्थ वैदिक और कवि, वेदपाठी तथा काव्य-रचयिता दोनो ही होता है, और अर्थ की इसी विभिन्नता के कारण वेद-पाठी ब्राह्मणों का वर्ग काव्योपजीवी ब्राह्मणों से पृथक होगया है। वैसे समय-समय पर वेदपाठी ब्राह्मणों मे भी काव्योपजीवी ब्राह्मण हुए है और

काव्योपजीवी ब्राह्मणों में वेदपाठी ब्राह्मण हुए है। आर्य जाति ने वेदों को पकड़ा है; पर काव्य का उसने एकदम तिरस्कार नही कर दिया। पारलौकिकर्ता और ऐहिकता दोनों का सुन्दर सामजस्य करना ही आर्य जाति का प्रधान लक्ष्य रहा है। यह सामजस्य ही आर्य-सस्कृति की रीढ़ है। जो वैदिक होकर कवि से भागता है या कवि होकर वैदिक से चिढता है, वह अनर्थ करता है। कणाद ऋषि के शब्दों मे हमे अभ्युदय और निःश्रेयस, लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति करनी चाहिए। एक आर्य को धन-वैभव से समृद्ध होकर ही निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए, उसे आध्यात्मिक सम्पत्ति का धनी भी होना चाहिए। छान्दस और कवि इन दो शब्दों के ऐतिहासिक विवेचन मे यही सार सन्निहित है।

वैदिक शिक्षा

बालक का सीधा सम्बन्ध अपने माता-पिता से होता है। माता-पिता के अतिरिक्त परिवार में भाई-बहिन भी होते है। इन सबके साथ बालकों का व्यवहार कैसा होना चाहिए, इसे हम वेद मन्त्रों के आधार पर नीचे लिखते है:—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया।
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट सराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्नि सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।

अथर्व० काड ३, अ० ६, सू० ३०, ३१ मत्र २, ३ तथा ५, ६

परिवार के अन्दर पुत्र को पिता के अनुकूल व्रत वाला होना चाहिए। उसका आचरण पिता के समान हो। उसका मन माता के साथ प्रीति-युक्त हो। माता के मन को कष्ट पहुचाना पुत्र के लिए किसी भी प्रकार उचित नही है। शास्त्रों मे माता का स्थान सौ गुरुओं के समान है। यदि किसी स्थान पर माता-पिता तथा अन्य गुरुजन बैठे हों तो सबसे पहले पुत्र को माता का चरण-स्पर्श करना चाहिए। प्रत्येक बालक अपनी मां के अग-अंग से उत्पन्न होता है। अतः उसका परम पावन कर्तव्य

माता के साथ समनाः होकर रहना है। माता के मन के अनुकूल आचरण करना और उसे प्रसन्न रखना पुत्र के लिए परम आवश्यक है। जो पुत्र माता के हृदय को प्रसन्न करने वाला है और पिता के अनुकूल अपना आचरण बनाता है अर्थात् सदाचार के सम्बन्ध मे पिता का अनुकरण करता है, उसकी आयु, विद्या, बल और यश बराबर बढते रहते है। माता-पिता के पश्चात् परिवार मे भाई और बहिन का सम्बन्ध है। बालक को अपने भाई और बहिनों मे से किसी के साथ किसी भी अवस्था मे द्वेष नही करना चाहिए। उनमें पारस्परिक प्रेम इतनी अधिक मात्रा मे होना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति उन्हे देखकर उनके समान गुण-शील आदि से प्रभावित हो। सुव्रत बनना बालकों के जीवन मे समान गुण, कर्म, स्वभाव वाला बनना है। ऐसे ही बालकों के मण्डल को देखकर एक अपरिचित व्यक्ति भी उनकी कुलीनता से स्वतः परिचित होजाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम और उनके बन्धुओं के शील स्वभाव का ऐसा ही आकर्षक वर्णन किया है। बालक जब एक दूसरे के साथ मिलें, उस समय उन्हे अत्यन्त भद्र-भाव-पूर्वक सुखदायिनी वाणी बोलनी चाहिए। वाणी मे अमृत और विष दोनों भरे पड़े है। हम चाहे तो उससे अमृत की वर्षा कर सकते है और यदि इच्छा हो, तो वाणी से विष भी उगला जा सकता है। एक कुलीन बालक अमृतमयी वाणी का प्रयोग करता है, परन्तु सस्कार और व्रत से विहीन बालक अमृत के स्थान पर जिह्वा से विष को उगलता है। अमृत की वर्षा करने वाले बालक का सम्मान होता है, परन्तु जो विषाक्त कटूक्तियाँ और गाली-गलौज बकता है, उसकी ओर कोई भी अच्छी दृष्टि से नही देखता।

बालकों को चाहिए कि वे श्रेष्ठ विद्यादि गुणों को धारण करने वाले बनें। वे चेतना-युक्त हों। प्रमाद और आलस्य से हटकर सज्ञान बनें। जिस कार्य को हाथ में लें, उसे करके छोड़े और सब परस्पर मिलकर एक समान कर्त्तव्य-निष्ठा की भावना से युक्त हों। उनमे विरोध और वैमनस्य का भाव घर न कर सके। एक दूसरे के लिए मधुर और प्रेमयुक्त भाषण करते हुए आगे बढ़ें। एक दूसरे के सुख मे सुखी और दुख मे दुखी होते हुए समान मन वाले बनने का प्रयत्न करें। जिनके मन एक से होते है, जिनका चिन्तन और विचार समान होता है, उनकी शक्ति बढ़ती है। एक व्यक्ति के विचार मे और कई व्यक्तियों के एक जैसे विचार मे महान् अन्तर है। जो विचार एक व्यक्ति मे ही केन्द्रित है, वह अपने विरोधी विचारो की प्रबलता मे हीन और असमर्थ होजाता है। परन्तु कई व्यक्तियो के हृदयों से उद्भूत समान विचारधारा बलवती होती है और अपने विपक्षियों की विचारधारा से डटकर मोर्चा लेती है। सङ्गठन मे बल है। अतः बालको को चाहिए कि वे समान विचार वाले बनें, तभी उनके विचारों का महत्व प्रकट होगा।

वेद कहता है कि सब बच्चो को एक साथ और एक जैसा भोजन करना चाहिए। उनके पानी पीने का स्थान भी समान हो। इस सम्बन्ध में स्वास्थ्य की अवस्था–विशेष मे अपवाद किया जा सकता है, परन्तु सामान्यतः भोजन और पान सब बालको का एक जैसा ही होना चाहिए। एक सत्तू खाने वाला हो और दूसरा हलुवा-पूड़ी का विलास-मय भोजन करता हो, तो स्वभावतः दोनो के रहन-सहन, चिन्तन और संस्कार भिन्न-भिन्न होंगे। यह भी सम्भव है कि दोनो विपरीत दिशाओं

में जाते हुए एक दूसरे के घोर शत्रु बन बैठें। अतः वेद की शिक्षा के अनुकूल सभी बालकों को समान भोजन-पान की सुविधा मिलनी चाहिए। किसी भी देश के बालक समान परिस्थितियों में समान उत्तर-दायित्व के बोझ को वहन करने वाले तभी बन सकेंगे। बालकों को एक साथ मिलकर भगवान की पूजा भी करनी चाहिए। प्रभु के वन्दन और कीर्तन में एक स्वर से उठी हुई समवेत ध्वनियाँ अत्यन्त मङ्गलमयी होती हैं। वातावरण में एक साथ गूंजकर वे अन्तरिक्ष की विचार तरङ्गों मे पवित्र लहरियाँ उत्पन्न करने मे समर्थ होती है। सम्मिलित स्वर से किया हुआ कीर्तन पवित्र वायुमण्डल को जन्म देकर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है, जो मानवता के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है। वेद ने इसीलिए प्रभु की सम्मिलित प्रार्थना पर इतना अधिक बल दिया है।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविन कुरु। यजु० ३२–१४०

इस वेद मन्त्र मे प्रभु से मेधा—बुद्धि की याचना की गई है। हमारे पूर्वज इसी मेधा की उपासना करते थे। प्रत्येक बालक को अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चलते हुए मेधावी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। बुद्धि को विकसित करने मे विद्या का बड़ा हाथ है। जहाँ से भी हो, हमे विद्या ग्रहण करनी चाहिए। शिक्षित होना मानव के लिए मेधा के द्वार का खुलना है, अतः उपयोगी तथा आन्तरिक शक्तियों का विकास करने वाली विद्या से सम्पन्न होकर बालक अपने अन्दर सोई हुई मेधा को जाग्रत करें। वेद ने एक स्थान पर लिखा है कि जब मेधा जाग्रत हो जाती है, तो वाणी का कोई भी विषय, वाङ्मय का कोई भी विभाग,

आँख से ओझल नही रह सकता। प्रत्येक विषय का ज्ञान हस्तामलकवत प्रत्यक्ष हो उठता है।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्त न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमाद अतद्राः ॥ ऋ० ८-२-१८ ॥

प्रभु परम जागरूक है। उनके साथ देव भी जाग्रत रहते हुए प्रमादी, आलसी एव सोने वाले प्राणियों को दण्ड दिया करते है। वे क्रियाशील, कर्मठ, कर्तव्य-पालन में तत्पर व्यक्ति की कामना करते हैं, परन्तु निद्रा-ग्रस्त व्यक्ति को कभी नही चाहते। प्रत्येक बालक को इन देवताओं की सङ्गति मे रहकर सदैव जाग्रत रहने का व्रत लेना चाहिए। प्रमाद और आलस्य जीवनधारा को कुण्ठित करने वाले है। चेतना का स्फुरण सतत् क्रियाशील रहने पर ही होता है। मानव का महत्व उसकी चेतना मे निहित है। जो सोता है, उसकी चेतना सोती है, परन्तु जो जागता है, उसकी चेतना भी जगमगाती रहती है। वेद में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जो जागता है, ऋचाये उसकी कामना करती है, सामगीतियाँ स्तुति करती हुई उसके पास पहुचती है और परम पावन सोमरूप प्रभु उसके अन्दर अपना घर कर लेते है। अतः प्रत्येक बालक को जागरूक बनना चाहिए। गीता में कहा गया है कि युक्त आहार और विहार तथा युक्त स्वप्न और जागरण योग की सिद्धि कराने वाले है। अतएव अयुक्त, अनुचित एवं अनावश्यक सोने की ओर किसी भी बालक को नही जाना है।

भद्र कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहित यदायुः॥

ऋ० १-८९-८

कानों से भद्र अर्थात् भली बातें सुनना और आँखों से भद्र अर्थात् शुभ दृश्यों का देखना जीवन के विकास के लिए आवश्यक उपादान हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियों मे आख और कान दोनों ही मुख्य हैं, हमारे जीवन का अधिकांश व्यापार इन्ही दो के सहारे चलता है। यदि इन दोनों के द्वारा हमने भद्र का सेवन कर लिया, शुभ एव कल्याणकारी तथ्यों का उपार्जन कर लिया, तो हमारा जीवन सुदृढ भूमि पर खड़ा होकर सत और प्रकाश की ओर जा सकता है। यदि ऐसा न हुआ तो कल्याण की प्राप्ति असम्भव है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ हमे अपने शरीर के अन्य अङ्गों को भी सुदृढ़ करना चाहिए। रोगों का अड्डा बना हुआ शरीर किसी काम का नही होता। अङ्गों की दुर्बलता किसी भी समय जवाब दे सकती है। अतः सुदृढ और सबल अङ्गों के द्वारा ही हमे अपनी जीवन-यात्रा मे पग पग पर सहायता मिलती है। उपनिषदों के ऋषियों ने कई बार इस बात को दुहराया है कि हमारे शरीर के अङ्ग अङ्ग मे अवतरित होकर देवों ने अपना स्थान बना लिया है। अतः हमारी आयु भी इन्हीं दैवी विभूतियों ने निश्चित कर रखी है। इसलिये हम मे से प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह इन अङ्गों को शक्तिशाली बनावे और भद्र श्रवण एव दर्शन के द्वारा इन अङ्गों से काम लेता हुआ कल्याण की ओर अग्रसर हो। हमे अपने अन्तः एव बाह्य दोनों की शुद्धि करनी है। अतः अपने अङ्गों को, इन्द्रियों को, वाणी को बलवान बनाते हुए, मानसिक सहनशक्ति से सयुक्त होते हुए, बुद्धि के तेज और ओज से हमें मण्डित होना चाहिए। इसीमे हमारी श्री है, शोभा है और धर्म है। परम प्रभु हम सबको शुद्ध, पूत और यज्ञिय बनावे।

सामवेद का अन्तिम अध्याय

वेदत्रयी मे ऋग्वेद ज्ञानपरक, यजुर्वेद कर्मपरक और सामवेद उपासनापरक कहलाता है। अथर्ववेद मे इन तीनों के सामजस्य के अतिरिक्त कुछ लौकिकता, पर विशेषतः ब्रह्मविद्या का विषय है। सामवेद में साम का अर्थ शान्ति अथवा प्रभु के साथ साम्य और समीपता का भाव है। अंग्रेजी के Psalm शब्द का भी यही अर्थ है।

प्रभु के समीप बैठना, उसकी उपासना करना, भक्ति भाव से विभोर होकर उसमे डूब जाना, जीवन-कृतकृत्यता की पराकाष्ठा है; पर साधारण रूप से इस अवस्था की प्राप्ति के लिए अनुकूल वातावरण की अत्यन्त आवश्यकता होती है। प्रतिकूल वातावरण मे सम्यक् सिद्धि की उपलब्धि असम्भव है।

वेद ने मानव-जाति को आर्य और दस्यु दो भागों मे विभाजित किया है। दस्यु का अर्थ है—व्रत-भंग करने वाला, मर्यादा तोड़ने वाला, नियम का न मानने वाला। दस्यु से मिलता-जुलता एक और शब्द है—वृषल। वृषल का अर्थ है—वृष को, धर्म को (वृषोऽयं धर्मः) नष्ट करने वाला। वेद ने ऐसे अव्रती, नियम का उल्लङ्घन करने वाले, धर्म को नष्ट करने वाले दस्युओं को शिक्षित, शासित एव वशीभूत करने की आज्ञा दी है। यही नहीं, यदि वे समझाने-बुझाने से उचित मार्ग का अवलम्बन न करें, तो राजनीति ने उनके वध को भी वैध माना है। वध (Violence) अथवा हिंसा शब्द से घबराने की आवश्यकता नहीं। इस कार्य-द्वारा एक आर्य

क्षत्रिय दस्यु को उसके उपयोग मे आने वाले शरीर-रूपी साधन से वंचित कर देता है। आत्मा तो अमर है। वह दूसरा शरीर धारण कर लेता है, जिसमे सम्भव है, वह पहले जैसा नियमोल्लङ्घन न कर सके और करे भी, तो तुरन्त पूर्व जन्म के सस्कार के कारण भयभीत हो जाय। हिंसा की इस मर्यादा को हमे हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है।

जब दस्यु प्रबल होजाते है, तो मानवता को स्थिर रखने वाले धर्म का लोप होने लगता है। इसी हेतु एक आर्य को धार्मिक वातावरण बनाने की आवश्यकता होजाती है। यह वातावरण ब्राह्मशक्ति-द्वारा उपदेश करने से भी बनता है और क्षात्रशक्ति द्वारा दस्युओं को वशीभूत करने अथवा उनका वध करने से भी उत्पन्न होता है। दोनो ही प्रकारों का अवलम्बन वैध माना गया है। एक दृष्टि से ब्राह्मशक्ति के सरक्षण के लिए भी क्षात्र शक्ति की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव होने लगती है। "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे, शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते"—शस्त्र द्वारा रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र-चिन्तन हो सकता है। यह उक्ति इसी दिशा की ओर इङ्गित करती है। सामवेद के अन्तिम अध्याय मे इसी क्षात्र शक्ति का विवेचन किया गया है। इस वेद के प्रारम्भिक प्रायः सभी मन्त्र, थोड़े से सृष्टि-विद्या-सम्बन्धी मन्त्रों को छोड़ कर, प्रभु की उपासना से ही सम्बन्ध रखते हैं; पर यह अन्तिम अध्याय सम्पूर्ण रूप से क्षात्र शक्ति के अभिव्यजक मन्त्रों से ही निर्मित हुआ है।

सामवेद के इन मन्त्रो को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं। कुछ मन्त्र ऐसे है, जिनमे सैनिक और सेनानायक के गुणों का वर्णन है। दूसरे प्रकार के वे मन्त्र है, जिनमें सेना के व्यूह-बद्ध करने का

उल्लेख है। तीसरे प्रकार के मन्त्रों मे शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपायों का वर्णन है। चतुर्थ प्रकार के मंत्रो में विश्वासघातियों के साथ, जो अपने ही अंदर निवास करते हैं, कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस बात का उल्लेख है। नीचे चारों प्रकार के मन्त्रों को उद्धृत किया जाता है—

सैनिक एवं सेनापति के गुण

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो, घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
सक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शत सेना अजयत् साकमिन्द्रः॥
सक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्व युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥१॥

दोनों मन्त्रों मे इन्द्र शब्द सेनापति के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र का अर्थ है ऐश्वर्यवान् तथा इन्द्रियों की शक्ति से युक्त। जैसे व्यष्टि मे इन्द्रियों की शक्ति से युक्त इन्द्र आत्मा है, वैसे ही सेना मे सैनिकों की शक्ति से युक्त सेनापति है। यह सेनापति आशुः अर्थात शीघ्रगामी होता है। जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता हो, वहाँ शीघ्र पहुंचाता है और स्वय पहुंचता है। यदि सेनापति शीघ्रगामी नहीं है, तो वह निश्चित रूप से अपनी सेना का ही, शत्रु सेना द्वारा, सहार करा डालेगा। अनेक अवसर ऐसे आ जाते हैं, जब थोड़ा सा भी विलम्ब, अल्प मात्रा की भी असावधानी, अपने लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है। अतः सेनापति को सदैव सावधान, वेगशाली तथा प्रत्युत्पन्न मति वाला होना चाहिए। अनिमिष का भाव है जागरूक रहना। आलस्य और प्रमाद मे पड़ने वाला व्यक्ति सेनापति नही हो सकता। शिशान का अर्थ है तीक्ष्ण।

मृदुल एवं कोमल स्वभाव वाला व्यक्ति युद्ध मे सेनापति का कार्य किस प्रकार सम्पादित कर सकेगा, जहाँ उसे न केवल दूसरो को ही मारना है, प्रत्युत् अपने प्राणा को भी सदैव हथेली पर रखे रहना है? तीक्ष्णता, कठोरता, वज्रहृदय होना—सेनापति का वह गुण है, जो उसे मातृत्व से पृथक कर नरत्व का अभिमानी बनाता है। माँ के मृदुल स्वभाव के कारण बच्चे उसे जल्दी डरा लेते है और अपनी हठ पूरी करा लेते है, पर बाप के उग्र स्वभाव के आगे उनकी हठ नही चलती। वे उसे डराकर, धमकी देकर अपना कार्य सिद्ध नही कर पाते। नरत्व की यह कठोरता सेनापति मे अवश्य होनी चाहिए।

सेनापति वृषभ अर्थात् बलवान बैल के समान शक्तिशाली और भयंकर होता है। वह समरांगण में घनाघनः अर्थात् चोट पर चोट करने वाला होता है और शत्रु सेना मे क्षोभ उत्पन्न कर देता है। उसका सक्रंदन, उसकी ललकार और तेज आवाज शत्रुओं के छक्के छुड़ा देती है। वीर्यवती वाणी सुनते ही दुश्मन का हृदय हिल जाता है, उसके औसान रफूचक्कर हो जाते है और साहस नष्ट हो जाता है। ऐसा जयशील, युद्ध करने वाला अच्युत और धैर्यशील सेनापति अकेला होता हुआ भी बलवान हाथों मे हथियार धारण कर शत्रुओं की असख्य सेना को विध्वस्त कर सकता है। आगे के मन्त्र में उसे अग्रधन्वा कहा गया है। आजकल का युद्ध-कौशल सेनापति को पीछे और सैनिकों को आगे रखने में माना जाता है; पर आर्यों की रणनीति मे सेनापति सबसे आगे अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित होकर चलता है और अपने असीम साहस-प्रदर्शन द्वारा सैनिकों के सम्मुख आदर्श उपस्थित करता है।

सैनिकों के लिए आगे के मत्र मे गण, वीर और मरुत शब्दों का प्रयोग किया गया है । सेनापति के गुण सैनिक में होने ही चाहिये । वे गण है, अर्थात् समूह और व्यूह मे बद्ध होकर अकेले नही, किन्तु कई मिलकर शत्रु सेना का सामुख्य करते है । वे वीर, सामर्थ्य से सम्पन्न एवं पराक्रम से युक्त होते हैं और साथ ही वे मरुत अर्थात शत्रुओं को रुलाने और मारने वाले होते हैं । सेनापति के समान वे भी निरालसी, सावधान, विजयशील, धैर्यवान, इषुहस्त और बलवान भुजाओं वाले होते है । आगे के एक मत्र मे उन्हे गोत्रभिद्=शत्रुव्यूह का वेध करने वाले, वज्रबाहु= कठोर भुजाओं वाले, गोविद्= सयमी, इन्द्रियजयी तथा पृथ्वी के विजेता कहा गया है । इन वीरो का एक विशेषण अदयः=दया रहित, निर्मम और शतमन्युः=अनेक प्रकार से क्रोध धारण करने वाला भी है ।

सेना की स्थिति तथा व्यूह रचना

इन्द्र आसान्नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देव सेनानामभिभञ्जतीना जयन्तीना मरुतो यन्तु अग्रम् ॥
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञः आदित्याना मरुता शर्द्ध उग्रम् ।
महामनसा भुवनच्यवाना घोषो देवाना जयतामुदस्थात् ॥३॥

जिन सैनिको का ऊपर वर्णन हुआ है, उनका नेता इद्र है, सेनापति है । अर्थात्—वे सैनिक अपने सेनापति की आज्ञा के अनुसार चलने वाले होते है । ये मरुद्गण अर्थात् सैनिक वीर वायु के समान तेजी से आक्रमण करते है । व्यूह रचना मे सेनापति आगे है, पीछे सेना है । दक्षिण की ओर बृहस्पति, मत्रणा प्रदान करने वाला पुरोहित, जो युद्ध का उद्देश्य युद्ध नही अपितु यज्ञ है—ऐसा समझता है और पुरः=सामने. यज्ञः

सोमः=पूज्य प्रेरक सोम, (सोमोऽस्माक ब्राह्मणाना राजा) ब्राह्मणों में विशिष्ट रूप से चमकने वाला, विराजमान होने वाला, ओजस्विनी वाणी से योद्धाओं के हृदय में उत्साह का सञ्चार करने वाला कवि रहता है। इस प्रकार व्यूह-बद्ध देवताओं की यह सेना, शत्रु सेना को भग्न करती हुई तथा स्वयं विजयशालिनी बनती हुई आगे बढती है। इन बलवान वरणीय, तेजस्वी, अपराजित, अखण्डित वीरों का पराक्रम उग्र होता है। वे समस्त भूमण्डल को अपने वश में कर लेते हैं और इस प्रकार दस्युओं का दमन करके आर्यों के चक्रवर्ती राज्य की स्थापना करते हैं। इन जयशील वीरों का जयघोष सर्व भुवनों में व्याप्त हो जाता है।

इन युद्धों का उद्देश नीचे लिखे मन्त्रों मे प्रकट किया गया है :—

विरक्षो विमृधो जहि विवृत्रस्य हनूरुज।
विमन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः॥
विन इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
योऽस्मा अभिदासति अधर गमया तमः॥

इद्रस्य बाहू स्थविरौ युवानौ अनाधृष्यौ सुप्रतीकौ असह्यौ
तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्या जितमसुराणा सहो महत्॥७॥

आर्यों के युद्ध ऐसे मनुष्यों, वर्गो और जातियों के प्रति होते है, जो राक्षस, दूसरों के द्रव्य, सम्पत्ति का हरण तथा शोषण करने वाले, हिंसक, लोभी, घेरा डालकर सत्पुरुषों के मार्ग मे विघ्न डालने वाले, आततायी, धार्मिक एवं न्याय-परायण पुरुषो को दास बनाने की आकाक्षा करने वाले और नीच हैं। नीच शब्द में जो घृणा छिपी पड़ी है वह, इन दुरात्माओं के लिए, सभी आर्य एवं सदाचारी पुरुषों के हृदय से प्रगट होती रहती है।

मत्र में कहा गया है कि ऐसे हिसकों, राक्षसों, बर्बरों एव आततायियों को कुचल देना चाहिये, उन्हें नीचे गिरा देना चाहिये। इन दुष्ट असुरों के बल को, बड़ी से बड़ी शक्ति को नष्ट करने के लिए आर्यों की भुजायें युवानौ=तरुण रक्त से ओतप्रोत, बलवान, स्थविरौ=मजबूत, सदा स्थिर रहने वाली, अनाधृष्यौ=कभी न दबने वाली, असह्यौ=शत्रु के लिए असह्य तथा "योग आगते प्रथमौ"=अवसर आजाने पर सर्व प्रथम उठने वाली, राक्षसों पर आक्रमण करने वाली होनी चाहिये। आगे के मत्र में कहा गया है "जयन्त त्वा अनुदेवामदन्तु" अर्थात् राक्षसों पर, बर्बरों पर जब आर्यों की सेना विजय प्राप्त करती है, तो दिव्यगुणधारी प्राणी प्रसन्न होते है। आर्यों के युद्ध विश्व मे दिव्य गुणों के प्रसार के लिए ही होने चाहिए। जिस हिसा से ससार में सात्विक वृत्ति वाले देवों और सज्जनों की रक्षा और प्रसन्नता सम्पादित हो, वह हिसा मुक्त स्वर से श्लाघनीय है। कौन अधम ऐसी हिसा का तिरस्कार करेगा? और जो अहिसा शत्रु-दल के साहस एव पराक्रम को बढाने वाली सिद्ध हो, जिससे अपना बल हीन तथा नीच बर्बरो का बल उत्तरोत्तर उग्र-से-उग्र होता जाय, उसे कौन मूर्ख प्रशसा की दृष्टि से देखेगा और अपनायेगा?

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपाय

उद्धर्षय मघवन् आयुधानि, उत् सत्वनां मामकानां मनांसि।
उत् वृत्रहन् वाजिना वाजिनानि उत् रथाना जयता यन्तु घोषाः॥
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेषु अस्माकं याइषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु अस्या उ देवा अवता हवेषु॥
असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसास्पर्द्धमाना।

तां गूहत तमसापव्रतेन यथा एतेषां अन्यो अन्यं न जानात् ॥ ४ ॥

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम अपने बल पर विश्वास करने की आवश्यकता है। हमारे हाथों मे हथियार हों, हमारे मन उत्साह की लहरों और हर्ष की धाराओ से ओतप्रोत हों, हमारे अश्वारोहियों के अश्व ऊपर शिर किये नियत गति से चल रहे हों। हमारे रथियों के जयघोष दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रहे हों। इस प्रकार की यदि हमारी मनोदशा बाह्य वातावरण के साथ एक हो रही हो, तो हमारे बाण निस्सन्देह विजय प्राप्त करेंगे और हमारी ध्वजा समरागण मे विजय की प्रतीक बनी हुई फहराएगी। हमारे वीर सैनिक शत्रु-सेना पर टूटते ही उसे ध्वस्त कर डालेंगे, क्योंकि दिव्य शक्तियों का रक्षक, वरद हस्त उनके शिर के ऊपर है।

और यदि शत्रु-बल अपने बल से अधिक बढ़ा हुआ प्रतीत होता है, उसकी सेना हमारी सेना से स्पर्धा करती हुई हमारी तरफ बढ़ती चली आ रही है, तो वेद कहता है कि पहले तो ऐसा घोष करो, जो शत्रु-पक्ष को भयभीत कर दे। ऐसे उपायों का अवलम्बन करो, जिससे शत्रु-सेना में अन्धकार फैल जाय, उसके सैनिकों के दिमाग़ और मन किंकर्तव्य विमूढ़ होजावें, अथवा ऐसी गैस छोड़ो, जिसका विष फैल कर शत्रु-सेना को मूर्च्छित कर दे और तमाच्छादित वातावरण में शत्रुओं के सैनिक आपस में एक दूसरे को पहचान न सकें।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाण अङ्गानि अप्वे परेहि।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकै रन्धेन अमित्रास्तमसासचन्ताम् ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में किसी ऐसी व्याधि को शत्रु-पक्ष मे फैला देने की व्यवस्था पाई जाती है जो शत्रुओ के चित्त को विमोहित करती हुई उनके

अङ्गों को पकड़ ले और उनके शरीरों का नाश करदे। कोई ऐसी युक्ति की जाय जिससे शत्रुओं के हृदय शोक की अग्नि से जल उठें और प्रगाढ़ अन्धकार अथवा मोह से युक्त हो जावें। यदि हमारे हृदयों में उत्साह बना रहा और शत्रुओं के हृदय व्यामोह से आवृत हो गये, तो हमारी विजय निश्चित है। नीचे लिखे मन्त्र कितना उत्साह भरने वाले हैं—

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवो नाधृष्या यथासथ॥
अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्म सशिते।
गच्छ अमित्रान् प्रपद्यस्व मामीषां कञ्च नोच्छिषः॥ ५॥

हे सैनिको! आगे बढो और विजय प्राप्त करो। परमेश्वर तुम्हे सुख और अभ्युदय दे। तुम्हारी भुजाये उग्र और बलवान हों, जिससे तुम किसी के द्वारा पराभूत न हो सको।

हे वाण! मन्त्र-द्वारा तीक्ष्ण किये गये तुम, छोड़े जाकर दूर शत्रुओं तक पहुचो और उनमे से किसी को भी शेष मत रहने दो।

कङ्का सुपर्णा अनुयन्तु एनान् गृध्राणामन्न असौ अस्तु सेना।
मैषां मोच्यिअघहारश्च नेन्द्र वयासि एनान् अनुसयन्तु सर्वान्॥ ६॥

शत्रु-सेना के ऊपर गृध्र, चीलें और अन्य मांस भक्षी पक्षी टूट पड़ें। शत्रु-दल उनका भोज्य अन्न बन जावे। कोई भी पापी न बच सके। पक्षी इन सबको खा जावें।

नीचे लिखे मन्त्र मे युद्ध की एक और दिशा का सकेत पाया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि शत्रु-पक्ष विलक्षण अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर सदाचार-दल को दबा लेता है। उस समय परिस्थिति

की गति-विधि को देख कर पर्वतों का आश्रय लेना पड़ता है। येनकेन प्रकारेण सुरक्षित रह कर शत्रु से प्रतिशोध लेने का सयोग ढूंढना पड़ता है और प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वेद कहता है—

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः, परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकं सशाय पविमिन्द्र तिग्म, विशत्रून् ताढि वि मृधोनुदस्व ॥६॥

जैसे पर्वतों मे विचरण करने वाला, कुत्सित अन्न का सेवन करने वाला भयकर पशु दूर से आकर अपनी शिकार पर टूट पड़ता है, वैसे ही परिस्थिति-वश यदि हमें पर्वतों का आश्रय लेना पड़े, कुत्सित अन्न का भी सेवन करना पड़े, तो भी सब कुछ सहन करते हुए, अनुकूल अवसर प्राप्त होते ही अपने प्रसरणशील तीक्ष्ण वज्र को पैना और प्रखर बना कर शत्रुओं पर टूट पड़ना चाहिए और आर्य- सस्कृति का विध्वंस करने वाले नारकी अत्याचारियों को नष्ट कर देना चाहिए। मुगलों की प्रचण्ड सेना का सामना न कर सकने के कारण महाराणा प्रताप और छत्रपतिशिवाजी ने इसी नीति का अनुसरण किया था। इसी गुरीला (छापामार) युद्ध-नीति के प्रयोग द्वारा वे मुगलों की उस महान् सेना पर विजय प्राप्त कर सके थे। जब अकबर के दूतों से महाराणा की निंदा सुन कर प्रताप के एक सहचर ने कहा कि महाराणाजी! अकबर आपको तृणचर गिरिचर, और बनचर के नाम से पुकारता है, तो महाराणा ने उत्तर दिया—"गिरिचर कहेंगे चाहे तृणचर कहेंगे, चाहे वनचर कहेंगे, पै अनुचर तौ कहेंगे ना" —अकबर को कहने दो; यदि वह मुझे पर्वतों में विचरण करने वाला, साग-पात, तिनके खाने वाला बनचर कहता है। वह यह सब कुछ कह सकता है, पर मुझे अपना अनुचर तो नही कह सकता।

आर्यों के हृदयों में बर्बरो के अनुचर न बनने की वासना जब तक बची है, जब तक स्वातन्त्र्य की भावना उनके हृदयों मे घर किये हुए है, तब तक आर्य जाति को विध्वस्त करने वाला कोई भी माई का लाल पृथ्वी पर पैदा नहीं हुआ। लाख बार प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमारे मार्ग में आकर रोड़े अटकावें, पर अन्तस्तल में छिपी हुई स्वाधीनता की यह भावना, सदाचार-सरक्षण की यह वासना हमारे मार्ग को आलोकित करती रहेगी और हम एक दिन अपने लक्ष्य की सिद्धि मे निःसन्देह सफल होंगे।

विश्वासघातियों से बचना

नीचे लिखे मन्त्रों मे अपने सरक्षण का भाव तथा विश्वासघातियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार का उल्लेख है—

मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि, सोमस्त्वा राजामृतेन अनुवस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु, जयन्त त्वा अनुदेव मदन्तु॥
अन्धा अमित्रा भवत, अशीर्षाणोऽहय इव।
तेषां वो अग्निनुन्नानाम्, इन्द्रो हन्तु वरम् वरम्॥
यो नः स्वो अरणो यश्च, निष्ट्यो जिघांसति।
देवास्त सर्वे धूर्वन्तु। ब्रह्म वर्म, ममान्तरम्। शर्म वर्म ममान्तरम्॥८॥

हमे स्वय अपने बचाव का प्रयत्न करना चाहिये। हमारे जितने मर्मस्थल है, सब के सब अभेद्य एव दृढ कवच से सुरक्षित रहने चाहिए। ये मर्मस्थल व्यक्ति के शरीर में भी होते है और समाज के अन्दर एव बाहर भी। आन्तरिक मर्मस्थल अधिक घातक होते है। अतः उनके बचाव की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है। ये मर्मस्थल वास्तव मे अपने घोर शत्रु है। शारीरिक मर्मस्थलो को कवच पहन कर सुरक्षित किया जा

सकता है; पर आन्तरिक शत्रुओं का दमन कैसे किया जाय, उनसे अपनी रक्षा किस प्रकार की जाय? वेद कहता है कि इन आन्तरिक अमित्रों को, जो या तो हमारी सहायता नही करते और इस प्रकार हमारी शक्ति को बढ़ाने के स्थान पर घटाने के कारण बने हुए हैं, अथवा जो हमारे मार्ग में क्रियात्मक रूप से विघ्न डालने वाले है, इन दोनों ही प्रकार के आतरिक शत्रुओं को नष्ट कर देना चाहिए। इनकी शक्ति को वैसे ही ध्वस्त कर देना चाहिए, जैसे साँप के सिर को कुचल दिया जाता है। हमारे ये शत्रु बिना दिमाग के, बिना सिर वाले, अविवेकी और अंधे हो जावे और अपने ही क्रोध एव अविवेक की अग्नि में जलकर नष्ट-भ्रष्ट होजावें। इनके वरम्-वरम्, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ नेताओ और अग्रगताओं को राजा नष्ट कर दे।

जो व्यक्ति या वर्ग हमारा अपना सम्बन्धी होकर भी हमारे विरुद्ध आचरण करता है, हमारा प्रिय एव हित–साधन नही करता और इस प्रकार हमसे दूर रह कर छिपे हुए रूप में हमे मारना चाहता है, उसको सब विद्वान् अपमानित कर मार डालें। ऐसे अवसर पर समाज को शान्ति एव बुद्धि से काम लेना चाहिए। हमारे क्षुब्ध होने तथा अविवेकी बनने से यह हमारा आन्तरिक शत्रु अधिक घातक सिद्ध हो सकता है, गृह-कलह (Civil war) का वीज बो सकता है और शत्रुपक्ष से मिल कर हमारी पराजय का कारण बन सकता है। 'घर का भेदी लंका ढाहै'—यह उक्ति प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। अतः वेद कहता है कि ब्रह्म=ज्ञान और शर्म=शान्ति हमारा आन्तरिक वर्म बने, हमारे अन्दर का कवच हों, आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करने वाले साधन हो।

इस प्रकार आन्तरिक शत्रुओं से सुरक्षित होकर अपने मर्मस्थलों को कवच द्वारा आच्छादित करके, हम अपने बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते है। इन्ही साधनों द्वारा प्रभु हमे अमरता से आवृत एव सयुक्त करता है और अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख प्रदान करता है। दिव्य शक्तियाँ इसी अनुकूल परिस्थिति मे आसुरी शक्तियों के दब जाने एव ध्वस्त होजाने से हर्षित होती और फलती-फूलती है।

सामवेद के इस अध्याय के अत मे प्रभु से प्रार्थना की गई है, जैसा कि युद्ध के अन्त मे होना चाहिए। यह प्रार्थना सर्वसामान्य, व्यवस्थित शान्तिसुख के वातावरण के लिये है। युद्ध-कालीन अशान्ति और बेचैनी असामान्य अवस्था की सूचक है। मानव स्वभावतः साधारण (Normal) दशा मे रहना चाहता है, जिसमे वह अपना शारीरिक, मानसिक एव आत्मिक विकास कर सके। असाधारण (Abnormal) दशा मे यह विकास असम्भव है। अतः वह प्रभु से प्रार्थना करता है— 'प्रभो, मेरे आगे ऐसा वातावरण हो, जिसमे रह कर मेरे कान कल्याण-कारी शब्दो, कथाओं और घटनाओं को सुन सकें। मेरे नेत्र कल्याण-कारी दृश्यों को देख सके। आपका स्तुतिगान करता हुआ मै स्थिर अगों और दृढ शरीरों से ऐसी आयु भोगूँ, ऐसा जीवन व्यतीत करूँ, जिससे देवताओं का हित हो, दिव्य-गुणो का विकास हो, सात्विक वृत्तियाँ समृद्धि-शालिनी बनें। हे महान्, सर्वज्ञ विश्वम्भर, अप्रतिहत शासक, सर्वशक्ति-मान परमेश्वर! आप सर्वदा हमारा कल्याण करे, हमे कल्याणकारी पथ पर चलावें।

आर्य और दस्यु दोनो हमारे ही अदर है। दस्यु के शिर

पर उसकी पहचान के चिह्न-स्वरूप सींग नहीं लगे है और आर्य के मस्तिष्क पर उसकी पहचान के चिह्न-स्वरूप अभिराम चन्द्र सुशोभित नहीं होरहा। जो बर्बर, आततायी, दूसरों का माल–धन लूटने वाले, लोभी और असयत परिग्रही हैं, जो केवल अपने ही मुख में सब कुछ डालने वाले हैं और दूसरों को सुखी होते हुए नहीं देख सकते, जो सर्व-हितकारी यज्ञीय कार्यों की सिद्धि में विघ्न डालने वाले है, वे ही दस्यु, वृषल और काफिर हैं। जो इनके विपरीत सदाचारी, सभ्य, सस्कृत, निर्लोभ, संयमी, दूसरों के मुख मे ग्रास डालने वाले, यज्ञ, परोपकार आदि कार्यों के साधक है, वे ही आर्य है। प्रभो, दस्युओ का निराकरण और आर्यों की वृद्धि आप निरन्तर करते रहे, जिससे ससार स्वस्ति एव शान्ति की ओर अग्रसर होता रहे। ओ३म् शम्।